CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्वानुभूति

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय
डॉ. पं. गोपीनाथ कविराज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्त्वानुभूति

लेखक

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक

एस०एन० खण्डेलवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

TATTVĀNUBHŪTI

by

M.M. Pt. Gopinath Kaviraj

Translated by

S.N. Khandelwal

© प्रकाशक

ISBN : 978-81-7124-815-5

प्रथम संस्करण : 2011 ई०

मूल्य : एक सौ रुपये (Rs. 100.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी–221 001

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निवेदन

प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराजजी की साधनोज्वल प्रज्ञा में जिस तत्त्वानुभूति का प्रतिफलन हुआ था, यह उसी का संकलन है। तत्त्व से यहाँ षट्त्रिंश तत्त्व किंवा पंचतत्त्वादि का तात्पर्यार्थ नहीं है। यहाँ तत्त्व का अर्थ प्राणब्रह्म, आत्मब्रह्म, परब्रह्मरूप सत्ता है, जो तत्त्वातीत होकर भी सर्वतत्त्वमय है। इनका तत्त्वातीत रूप मन-वाणी-अनुभूति, सबसे परे है। जीवदशा में इनके इस रूप की अनुभूति कर सकना भी असम्भव है, यहाँ तक की इनकी धारणा भी इस देहयन्त्र से कोई कैसे कर सकता है? तथापि महापुरुष के अन्तःचक्षु इनके तत्त्वमय स्वरूप की अनुभूति कर ही लेते हैं, यही है परमतत्त्व की अनुग्रहरूप कृपा। स्वप्रयत्न से कोई भी इस तत्त्वानुभूति का अधिकारी नहीं हो सकता। यह कृपा-सापेक्ष है।

यह अनुग्रहानुभूति सामान्य जन के लिए दुष्प्राप्य है। इस अनुभूति प्रभा को धारण करने योग्य जिस चित्तफलक की आवश्यकता है, वह पाकर भी मनुष्य उस पर संश्लिष्ट कल्मष का मार्जन नहीं कर सका है। ऐसी स्थिति में महापुरुष की तत्त्वानुभूतिपूर्ण वाङ्मयी त्रिपथगा में, ज्ञान-भक्ति-कर्म की अन्तःसलिला में निमज्जन करके जिज्ञासुवर्ग अवश्य कृतार्थ होगा और उसके इस स्नान से स्वच्छ-धौत-निष्कल्मष चित्तफलक पर किंचित् परिमाण में वह अनुभूति अवश्य प्रतिच्छवित हो सकेगी, यह विश्वास करता हूँ।

इस संक्षिप्त कलेवर तथापि प्रत्यक्षानुभूतिपूर्ण, गम्भीरार्थनिहित सद्ग्रन्थ को प्रकाशित करके सर्वजनसुलभ करने का विश्वविद्यालय प्रकाशन के अधिष्ठातागण ने एक स्तुत्य प्रयास किया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

चैत्र नवरात्र, 2011 ई० —एस०एन० खण्डेलवाल
बी 31/32, लंका, वाराणसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ
1. आत्मज्ञान	1
2. प्रकाश एवं चिदाकाश	8
3. आनन्दधाम	11
4. बलि	12
5. नामकरण	14
6. भाव	15
7. देवता	16
8. इच्छा	24
9. आकाश तत्त्व	29
10. प्रकाश-आलोक-ज्योति	31
11. सत्ता	34
12. विजय	36
13. ज्ञान एवं कर्म	37
14. दीक्षातत्त्व	39
15. कृत्रिम तथा स्वाभाविक वायु	43
16. कृपा	45
17. बिन्दु-महाबिन्दु	47
18. कृष्णतत्त्व (कृष्णज्योति तत्त्व)	56
19. मार्ग	58
20. आकाश	63
21. क्रिया	67
22. प्रलय-मृत्यु	70
23. मन	72
24. अखण्ड सत्त्व	75
25. विशुद्धवाणी प्रसंग	78
26. शुद्धसत्त्व	83
27. अन्तर्यात्रा	86
28. जप	92
29. कारण-जगत् तथा इच्छा, ईश्वरेच्छा	98
30. बीज	101
31. बिन्दु-कला	103
32. देह तथा कारण-जगत्	108
33. आत्मज्ञान - आत्मगति	117
34. गुरु	137
35. वेद एवं सूर्य	139
36. साधक एवं योगी	141
37. धर्म	142
38. अगम पथ	144
39. सृष्टि-काम रहस्य	147
40. व्यापकता	149
41. जीवोद्धार	150
42. चित्त	151

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मज्ञान

आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा का धर्मज्ञान, जो मन के आघात से आत्मा में उत्पन्न होता है।

मानसज्ञान अर्थात् मन का धर्मज्ञान, जो इन्द्रिय के आघात से मन में स्फुरित होता है।

बाह्यज्ञान अर्थात् इन्द्रिय का धर्मज्ञान। यह विषय का आघात होने से इन्द्रियों में उत्पन्न होता है।

बाह्यज्ञान में जो जगत्‌चित्र प्रतीत होता है, वही बाह्यजगत् है। यह इन्द्रिय-विकार कहा गया है। मानसज्ञान में जो जगत् स्फुरित होता है वह मन का विकार है। आत्मज्ञान में जो जगत् प्रकाशित होता है वह है आत्ममय, चिन्मय। यह ज्ञान का आश्रय है।

आत्मा एक ओर है और दूसरी ओर परमात्मा है, जो बाह्यजगत् के रूप में प्रतीयमान हो रहा है। एक ओर है ज्ञाता आत्मा तो ज्ञेय आत्मा दूसरी ओर है। लेकिन बीच में मन तथा इन्द्रिय होने से सम्यक् भान नहीं हो पाता, क्योंकि अभी इन्द्रिय स्रोत विषय की ओर है। फलतः आत्मा का भी मन की ओर स्त्रोत है। यही कारण है कि ज्ञेय आत्मा विषयरूप में अवभासित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आत्मा के दृश्यमान होने पर भी उसकी प्रतीति विषय के रूप में, अनात्मा के रूप में तथा आत्मभिन्न रूपेण हो रही है। जब यह स्त्रोत आत्मोन्मुख हो जाता है, तब इस अन्तर्मुखीन गति की सीमा ही आत्मा है। जैसे बाह्यवृत्ति भी निष्ठा ही विषय है।

मन तथा इन्द्रिय के क्रियाशील न रहने की दशा में जगत्‌ज्ञान का उदय कैसे होगा? इनकी क्रिया के बहिर्मुखीन होने पर जो संयोग होता है अर्थात् आत्मा एवं मन का संयोग, मनः तथा इन्द्रियों का संयोग, इन्द्रिय एवं विषयों का संयोग, इस संयोग से विषय का ज्ञान होता है। जब यह क्रिया अन्तर्मुखीन होती है, उस संयोग से आत्मज्ञान का उद्रेक होता है।

बाह्यज्ञान की गति प्रथमतः विषयोन्मुख होती है। फलतः मन की गति इन्द्रियोन्मुखी होती है। इसके आकर्षण से आत्मा की एक प्रभा मन की ओर जाती है। यही है आत्मशक्ति का बहिःप्रकाशन।

आत्मज्ञान की स्थिति में आत्मा पहले मनः को अपनी ओर खींचता है। मनः इन्द्रियों को अपनी ओर खींचता है। अब इन्द्रियाँ विषय को अपनी ओर खींचती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात्

विषय → इन्द्रियों की ओर, इन्द्रियाँ मनः की ओर,
मनः आत्मा की ओर।

अतः सिद्धान्त यह है कि आत्मज्ञानी का आत्मा आकर्षणशील होता है, सब कुछ आत्मा की ओर खींचता चला जाता है परन्तु विषयज्ञान का आत्मा विषयों की ओर खिंचता जाता है। उसमें अपना आकर्षण नहीं होता।

मन तथा इन्द्रियों की निष्क्रियावस्था में किसी भी ज्ञान का उदय नहीं हो सकता, न तो विषयज्ञान ही उदित होता है और न आत्मज्ञान।

आत्मज्ञान को दीक्षित करता है स्वयं आत्मा। फलस्वरूप यदि आत्मा मन को अपनी ओर न खींचे तो किसी भी उपाय से आत्मज्ञान हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में विषयसमूह का आकर्षण कैसे रह सकता है जब कि आत्मा मन को अपनी ओर खींचे जा रहा है। कभी-कभी ऐसा होता है कि आत्मा मन को अपनी ओर खींचता है। दूसरी ओर विषय भी इन्द्रियों को अपनी ओर खींचता है। इस समय मन इन्द्रियों का तथा इन्द्रियाँ विषय को अपनी ओर खींचती हैं। जिसका आकर्षण बल अधिक है, वह अन्य को अभिभूत कर लेता है। यह एक प्रकार से सुमति एवं कुमति के बीच का द्वन्द्व भी कहा जा सकता है।

आत्मा से एक प्रभा बाहर की ओर निर्गत हो रही है। यह प्रभा जब मन पर पड़ती है तब मन से एक प्रभा निर्गत होकर इन्द्रियों की ओर जाती है। पुनः इन्द्रियों से वह प्रभा परिवर्तित होकर विषय की ओर जाती है किन्तु सबके मूल में आत्मा ही की प्रभा कारण है। तभी कहते हैं कि आत्मप्रकाश से सबकुछ प्रकाशित होता जा रहा है। इस प्रभा विकिरण के मूल में भी मन की क्रिया तथा आत्मा से योग अथवा आत्मा और मन के संघर्ष को कारण कह सकते हैं। यह संघर्ष न रहे, तब तो आत्मा (शिव) शववत् है। तब न तो उसमें प्रभा है न शक्ति ही है। परन्तु मन की क्रिया भी स्वयमेव नहीं हो जाती। इसकी क्रिया में वायु कारण है। वायु का कम्पन ही मन की क्रिया है। वायु अर्थात् वासना, मुक्त विषय का संस्कार रूप अपक्व अंश। विषयभोग अथवा विषय जब संस्काररूपेण रह जाता है, हजम नहीं हो पाता, तब वायु उत्पन्न होता है। जब यह संस्कार पूर्णतः हजम हो जाता है बाह्यतत्व नहीं रह जाते तब संस्कार नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि जब अचित् पूर्णतः चिद्भाव में (गुरुकृपा अथवा साधना से) परिणत हो जाता है, तब इसे ही यथार्थ भोग कहते हैं। विषयभोग यथार्थ भोग नहीं है। अन्यथा बदहजमी की स्थिति हो जाती है। यह अपक्व वस्तु (अचित् अंश) अन्दर जमा रह जाती है, तब वह चित् को भी अचित् की ओर खींचने लग जाता है। बीच में रहती है मन की क्रिया। अतएव जिस कारण अचित् को पूर्ण रूप से चिद्रूपेण ग्रहण नहीं किया जा सकता, वहीं आत्मा की किरण विकिरण का कारण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनोहर अर्थात् जो मन का हरण करे। विषय का बल जब मन के बल से अधिक हो जाता है, तब वह मन को खींचने लगता है। अब मन विषय को नही खींचकर स्वयं खींचता चला जा रहा है। इसी कारण विषय है मनोहर। मन की एक धारा है। मन कुछ न कुछ आत्मशक्ति धारण करता है। अतः मन की स्वाभाविक गति आत्मा की ओर होती है परन्तु उस ओर न जा पाने का कारण है कि मन विषयों से बाधित हो जाता है। विषयों की स्वाभाविक गति प्रकृति की ओर होती है। समस्त कार्य अर्थात् विकार अपने कारण में विश्रान्त होना चाहते हैं, परन्तु प्रकृति का अभी पुरुष से सम्बन्ध नहीं है। अतः वे विश्रान्त नहीं हो पाते। फलस्वरूप विषय अथवा विकार भी अपनी मूल प्रकृति में सहसा नहीं लौट पाते।

मन जब विषय से युक्त है, उस समय यदि मन में तनिक भी आत्मबल हो तब विषय की शक्ति नहीं है कि वह मन को अपनी ओर खींच सके। अपितु मन ही विषय को खींच लेता है। मन विषय को हजम करके उसका आकार धारण करता है। यही है साकार आत्मज्ञान। अर्थात् विषय का आकारमात्र है, परन्तु उसका उपादान शुद्ध है। इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस समाधि में मन एवं विषय चिन्मय हो जाते हैं। अब विषय भी मुक्त होकर ब्रह्म हो गया है। इस प्रकार समस्त विषयों को मुक्त कर देने पर समस्त जगत् ब्रह्ममय हो जायेगा। अर्थात् उस समाधिज ज्ञान में समस्त जगत् ब्रह्ममय परिलक्षित होने लगता है। यह वैराग्य की भी सिद्धि है। अब विषय के प्रति आकर्षण नहीं रहता। मन भी चिन्मय हो जाता है। अर्थात् मन अब चिज्ज्योति से ओत-प्रोत है। इसके अनन्तर मूल प्रकृति के चैतन्य होते ही ब्रह्ममय जगत् का उसमें लय हो जाता है। अब एक अद्वय चैतन्य सत्ता रह जाती है, जो स्वप्रकाश है। वहाँ मन नहीं है। सबकुछ आत्मा की ही शक्ति है।

एतद्विपरीत यदि विषय मन को खींच लेता है, तब धीरे-धीरे पूरा मन विषय में डूब जाता है। मन का ज्ञानरूप भी विषय में लीन हो जायेगा। अब विषय ही है। उसी में मन डूबकर एकाकर है, जड़भावापन्न है। अब आत्मा अप्रकाश है, अज्ञान में निमज्जित है। जब मन विषय को खींच लेता है, तब आत्मा ज्ञानमय है। जब विषय मन को खींच ले, तब आत्मा जड़ तथा ज्ञानहीन है। स्वप्रकाश भाव से रहित है।

आत्मज्ञानी पुरुष मुक्त हो जाता है। जो पूर्णतः मुक्त है उसका कोई भविष्य नहीं होता। वह सदैव वर्तमान में रहता है। उसका न तो कोई कर्म अवशिष्ट है, न कोई भोग ही बाकी है। वह मात्र द्रष्टा है, परन्तु चरम मुक्त स्थिति में वह द्रष्टा भी नहीं है। भविष्य तब कार्यकारी रहता है जब द्रष्टा एवं भोक्ता में किंचित् भिन्नता हो। द्रष्टा यह देख सकता है कि उसे क्या-क्या फल भोग करना है। परन्तु तटस्थ होने के कारण वह इससे विचलित नहीं होता। वह सुख-दुःख दोनों को देख लेता है, परन्तु दोनों में ही आनन्दित है। वह शान्त तथा द्वन्द्वों से परे हो जाता है। जब कर्मादि बीज ही नहीं, तब भविष्य कहाँ? केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रष्टा ही मुक्त है। परन्तु यहाँ पूर्णमुक्ति में तथा जीवन्मुक्ति में भेद है। जीवन्मुक्ति में व्यक्ति द्रष्टा होकर भी भोक्ता बना रहता है, भले ही वह सुख-दुःख की समत्व स्थिति में रहे। परन्तु पूर्णमुक्ति में द्रष्टा में पृथक् इच्छा नहीं रहती। अतः वह पूर्ण है। तथापि उसका स्वातंत्र्य ही इच्छारूपेण प्रकट होता है। यही है अनिच्छा की इच्छा। उसकी इच्छा परमपद की महा इच्छा से मिली रहती है। उसकी योगयुक्तता कभी भंग नहीं होती।

ईश्वर-जीव

ईश्वर तथा जीव-सम्बन्ध की आलोचना की जा रही है। सूर्य से स्वतः बिना किसी प्रदर्शन के चुपचाप किरणें स्फुरित होती रहती हैं। इसी प्रकार ईश्वर से शक्ति विकीर्ण होती रहती है। उसमें काल-अकाल का विचार नहीं रहता। वह स्वाभाविक-अहेतुक व्यापार है। इसे कहते हैं जनरल (सामान्य) कृपा। इसी से जीव-जगत्, दोनों का संचालन होता है। जीव-जगत् सदैव इस स्थिति को ही ग्रहण करके चलनशील है, अन्यथा वह क्षणार्ध के लिए भी चल नहीं सकता। यह उसी शक्ति का निदर्शन है कि जगत् में जीवन है।

व्यावहारिक क्षेत्र में शक्ति की यह प्राप्ति आधारानुसार होती है। सभी समान शक्ति नहीं पाते। ग्रहण अथवा योग्यता सबमें समान नहीं है। जिसकी जैसी ग्रहण-योग्यता है, वह उसी अनुपात में शक्ति ग्रहण कर लेता है। अतएव यह कह सकते हैं कि व्यवहार क्षेत्र में ईश्वर से सबको समान शक्ति नहीं मिलती। योग्यतानुसार मिलती है। न ज्यादा, न कम। यही कर्मवाद है। जैसा कर्म वैसा ईश्वर फल देता है। जीव भी भिन्न-भिन्न योग्यता अथवा ग्रहण योग्यता का उत्तरदायित्व ईश्वर का नहीं है। यह जीव का कर्म है। यही न्याय-नीति अथवा कर्म का रहस्य है। जीव की इच्छा कर्म का कारण है। वह कभी शुभ—प्रबल तो कभी अशुभ—निर्बल क्यों होती है, इसका कारण कोई नहीं जानता।

यह तो कर्म का दृष्टिकोण कहा गया। भक्ति की दृष्टि से कहा जा सकता है कि ईश्वर जिसे जैसा बनाते हैं, देते हैं, वैसी ही उसकी योग्यता होती है। जीव का कर्म तथा कर्मफल केवल बात है। जिस परिमाण में जीव को शक्ति मिलती है, उसकी योग्यता का आधार भी उतना ही होता है। यह है भक्ति का कृपावाद। ईश्वर भिन्न-भिन्न कर्म क्यों देते हैं, इसके लिए जीव कर्मदायी नहीं है। ईश्वर की जैसे प्रेरणा जिसके लिए होती है, वह जीव वैसा ही कर्म करता है। जीव तो ईश्वंर की कठपुतली है। यहाँ ईश्वरेच्छा प्रधान है। उनकी इच्छा विभिन्न क्यों होती है? इसका कारण कोई नहीं कह सकता। शास्त्र, महापुरुष भी नहीं जानते।

अध्यात्म दृष्टि से न तो जीव की कोई क्षमता है, न ईश्वर की ही कोई क्षमता है। जीव के बिना ईश्वर की शक्ति अथवा कृपा निष्फल है और ईश्वर के बिना जीव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का पौरुष अथवा कर्म दोनों ही निष्फल हैं। जहाँ ईश्वर तथा जीव एक हैं, वही है परात्पर पूर्णब्रह्म, सनातन। यही स्वभाव है। यही ईश्वर की कृपा एवं जीव के पुरुष-कार के रूप में प्रकट होता है। यह स्वतन्त्र है। अहैतुक तथा नित्य है। जीव में यदि इच्छा है (परम प्राप्ति की इच्छा), तब ईश्वर की इच्छा केवल प्रतिबन्धक स्थितियों को हटाकर जीव की सहायता करती है। यही कृपा है। वस्तुतः दोनों इच्छाओं का मूल है एक अद्वितीय महा इच्छा।

कहा गया है कि ईश्वर दाता है तथा जीव ग्रहीता है, परन्तु जब तक ईश्वर कुछ पाते नहीं, वे दान भी नहीं कर सकते। इसी प्रकार जब तक जीव कुछ दान नहीं कर देता, तब तक वह कुछ प्राप्त भी नहीं कर सकता। अतः ईश्वर दाता अवश्य है, परन्तु वह कुछ प्राप्त किये बिना अथवा लिये बिना अपूर्ण है। ऐसी अपूर्ण स्थिति में ईश्वर कुछ भी दान नहीं कर सकता। इसी तरह जीव लेने वाला तो है, परन्तु उसे भी कुछ देना है। इसको दिये बिना वह अपूर्ण है। दोनों जब तक ऐसी अपूर्णता में रहते हैं, तब तक कुछ नहीं होता। यदि ईश्वर दान पाकर सम्यक् रूप से दे सके तथा जीव यदि उसे सम्यक् रूप से ले सके, तब तो इस आदान-प्रदान क्रीड़ा से पूर्णब्रह्म का पथ परिष्कृत हो जाता है। जीव को चाहिये कि वह अपना माधुर्य (भक्ति का सार) ईश्वर को अर्पित करे। तब ईश्वर का ऐश्वर्य जीव में अर्पित हो जाता है। ऐसा होने से युक्त अवस्था में ऐश्वर्य-माधुर्य के एकत्र सन्निवेश के कारण, एक दिव्य अवस्था का सन्धान मिलने लगता है। अब पूर्णता के पथ पर ईश्वर तथा जीव, दोनों प्रतिष्ठित होते हैं। अतः शास्त्र का वचन है कि प्रेम से भगवान् वशीभूत हो जाते हैं। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि प्रेम से सराबोर जीव द्वारा आत्मसमर्पण के फल से ईश्वर भी जीव को अपना अर्पण, आत्मार्पण कर देते हैं। यही है ईश्वर का भक्त के अधीन हो जाना। अर्थात् God in Man, Man in God। इसके लिए पारस्परिक सापेक्षता आवश्यक है। निरपेक्ष भाव से आदान-प्रदान असम्भव है। यदि जीव आत्मसमर्पण नहीं करता, तब ईश्वर भी आत्मार्पण नहीं कर सकता। जब स्वभाव की कृपा होती है, तब यह प्रक्रिया युगपत, एक साथ हो जाती है।

'मैं' के रहने तक (बिन्दु रहने तक) काठिन्य तथा पार्थक्य रहता है। 'मैं' के गलित होते ही अस्तित्व चारों ओर फैल जाता है। जब जीव प्रेम में गल जाता है, तब जीव नाम का कोई अस्तित्व नहीं रहता। यही है जीवत्व का विलोप-ईश्वरत्व-लाभ। ऐसे ही ईश्वर जब भक्त को आत्मार्पण कर देता है, तब ईश्वरत्व भी गलकर बिखर जाता है। एक माधुर्य फूट उठता है। यदि ईश्वर नहीं गला, तब जीव को माधुर्य कहाँ से मिलेगा? जीव को गला न पाये, तो ईश्वर का ऐश्वरत्व कहाँ? दोनों द्रुतिनिमित्तव्यापकतामूलक हैं। जगत् परदे के उस पार ईश्वर जीव को चाहते हैं और पाते हैं। नित्य जीव भी ईश्वर को चाहता और पाता है। दोनों नित्य मिलते हैं। यही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेम है। अलगाव नहीं है। मन के परपार जीव का विषयों से वैराग्य तथा ईश्वरानुराग स्वाभाविक एवं नित्य है। माया के परपार ईश्वर का भी जीव-प्रेम स्वाभाविक एवं नित्य है। यही है योगावस्था।

परन्तु जगत्-परदे के इस पार जीव ने ईश्वर को मानों भुला दिया है। ईश्वर भी मानों जीव को भूल चुके हैं। 'मानों' का तात्पर्य है कि जीव अस्पष्ट भाव से उनको ही चाहता है। अर्थात् विषयों से भरे जगत् में आनन्द खोजने का उसका जो प्रयास है, वह वास्तव में ईश्वर की ही खोज है। ऐसे ही ईश्वर भी अस्पष्ट भाव से जीव को ही चाहते हैं, अन्यथा उनमें बहिर्मुखी दृष्टि क्यों होती? इसका मूल है करुणा। निमित्त कारण है दुःख। जैसे जीव अज्ञातभाव से आनन्द को ही खोजता रहता है, वैसे ही ईश्वर दुःख चाहते हैं। जीव इसी आनन्द में उन्हें पाकर क्षण के लिए उनके मिलन में अज्ञातभाव से उनको ही पाता है। उधर जीव के दुःख में ही ईश्वर उसे पकड़ लेते हैं। अतः वह दुःख में क्षणार्ध के लिए जीव से मिलित हो जाते हैं। यह है करुणा का मूल।

ईश्वर-कृपा दो प्रकार से देखी जाती है। प्रथम है सापेक्ष कृपा, द्वितीय है निरपेक्ष कृपा। यथार्थ कृपा निरपेक्ष होती है। जीव पर ईश्वर कृपा करते हैं। कृपा करके शक्ति का दान करते हैं। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि यदि जीव में कृपा धारण करने का आधार न रहे, तब ईश्वर की कृपा बरसती रहते भी उसका कोई लाभ नहीं मिलता। ईश्वर कृपालु हैं। स्वभावतः कृपा उनसे विकीर्ण होती रहती है, परन्तु सभी उसे नहीं पाते। उनकी कृपा के मूल में साम्यभाव है। इसलिए जीव का आधार सापेक्ष है। ईश्वर दे रहे हैं, परन्तु देखते हैं कि कोई लेने वाला ही नहीं है। उनका दान उनमें ही लौट जा रहा है। इधर जीव हाथ पसारे खड़ा है, वह देख रहा है कि उसे कोई देने वाला ही नहीं है। अतएव कृपा वर्षण से भी जीव का दुःख वहीं का वहीं है। दान तभी सार्थक होता है, जब कोई उसे लेने वाला हो। ग्रहीता को मिल जाना ही दान की सार्थकता है। यदि नहीं मिला तो वह निरर्थक है। प्रार्थना तभी सार्थक है जब जिसकी प्रार्थना की जा रही है, वह कुछ दे। जीव अपनी असमर्थता के कारण दाता ईश्वर को देने के लिए प्रेरित नहीं कर पा रहा है। ईश्वर भी असमर्थ हैं, अतः प्रार्थी और अभावग्रस्त जीव को देकर दान की सार्थकता करें। दोनों इस सम्बन्ध में नियति के अधीन हैं। यही विधि-विधान कहा जाता है।

ऐसा होने का क्या कारण है? पूर्ण सत्ता से जब ईश्वर एवं जीवभाव का विकास होता है, तब दोनों अपूर्ण रहते हैं। जीव तुच्छ है, ईश्वर महान् है। तथापि जीव के बिना ईश्वर अपूर्ण है, क्योंकि उसके ईश्वरत्व को देखने वाला ही तब नहीं रहेगा। इसी प्रकार ईश्वर के बिना जीव भी अपूर्ण है। यही कारण है कि ईश्वर केवल अपनी इच्छा से जीव को सुखी नहीं कर सकते, यदि जीव का भाग्य अथवा आधार ही उपयुक्त न हो। यदि वे ऐसा अपनी इच्छा से कर सकते, तब तो जगत् में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दुःख ही न रहता। वे दयामय हैं। वे कभी भी जगत् को दुःखी नहीं देख सकते। उनकी कृपा सदैव जीव की ओर विकीर्ण होती रहती है, परन्तुं सुख के लिए केवल ऐसी शक्ति ही जीव को सन्तोष प्रदान नहीं कर सकती। जीव में सुख पाने की अथवा सुख को खींचने की अपनी शक्ति का रहना भी आवश्यक है। इसे ही आधार कहा जाता है। आधार के अनुसार ही जीव को ऐसी शक्ति की कृपा मिलती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जीव भी अपनी इच्छा से, साधन बल से सुखी अथवा तृप्त नहीं हो सकता। इसमें उसे ईश्वर-कृपा का सहाय्य भी अभिप्रेत है।

प्रत्येक की एक स्थिति होती है। स्थिति को बचाकर आधार-वृद्धि की जा सकती है। बुद्धि की भी एक सीमा है। सब कुछ सीमा में है। हम दो पृथक् राज्य देखते हैं, जीव तथा ईश्वर। जीव का प्रत्येक अवस्था में ईश्वर से सम्बन्ध है। ईश्वर का हर अवस्था में परमेश्वर से सम्बन्ध है। परमेश्वर की अवस्था में निष्कल का साक्षात् होता है। जीवशक्ति प्राकृत सत्य है। ऐशी शक्ति शुद्धसत्व है। जब प्राकृतसत्व शुद्धसत्व में परिणत होता है, तब जीव में शिवत्व आ जाता है।

इस प्रसंग में भोग का संकेत दिया गया है। भोग करने का अर्थ है सार ग्रहण करना या अपने अन्तर्गत करना। भोग के बिना वैराग्य कहाँ से होगा? सब कुछ को अपना बनाकर ही वैराग्य होता है। संसार की सभी वस्तु का सार ग्रहण करना होगा। बिना भोजन किये भोजनेच्छा की निवृत्ति क्यों होगी? खाने से पेट भर जाने पर और खाने की इच्छा नहीं होती। खाना अर्थात् वस्तु का सारांश ग्रहण करना। विश्व का भोग करके ही विश्व का त्याग हो सकेगा, नहीं तो वैराग्य असम्भव है। भोग से सार ग्रहण होता है। असार यहीं पड़ा रह जाता है। तब त्याग अथवा वैराग्य के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। विश्व का चरम सार है अमृत। अतः भोग है अमृतपान अथवा आनन्द का आस्वादन। सार ग्रहण कर सकने वाला भोग आनन्दमय कोष का व्यापार है। असार को ग्रहण करने वाला भोग आनन्दमय कोष का व्यापार कदापि नहीं है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाश एवं चिदाकाश

चिदाकाश के एक मेरु से शब्द उठता है। दूसरे मेरु से मन फूटता है। अतएव मन एवं शब्द एक ही हैं। दोनों में भेद की प्रतीति से भेदमय अथवा द्वन्द्वमय जगत् का आविर्भाव होता है। जब इनका द्वन्द्व समाप्त हो जाये, तब न तो शब्द रहता है, न मन। एकमात्र चिदाकाश रह जाता है। नाना साधनोपाय से मन तथा शब्द का ऐक्य, अभेद सिद्ध हो सकेगा। आत्मा के चेतनांश से स्फुटित होता है मन। जडांश से स्फुटित होता है शब्द। इसलिए दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं। यही कारण है कि शब्द के बिना मन की तृप्ति, पूर्णता, स्थिरता तथा शान्ति नहीं होती। इसी प्रकार यदि शब्द मन पर पूर्णतः अधिकार न कर सके, तब पूर्णत्व का लाभ ही नहीं हो सकेगा।

चरमावस्था में दोनों विलीन हो जाते हैं। केवल आत्मा अवशिष्ट रह जाता है। सहस्रार की ओर से मन की धारा उतरती है। मूलाधार से शब्द की धारा उठती है। जब मन की धारा मूलाधार में निरुद्ध होगी और जब शब्द की धारा पूर्णतः सहस्रार में निरुद्ध होगी, तभी एक अद्वय सत्ता रह जायेगी। तब प्रपंच समाप्त हो जाएगा।

हमारा ज्ञान विशुद्ध नहीं होता। वह अनुकूल अथवा प्रतिकूल होता है। जिसे हम तटस्थ ज्ञान कहते हैं, वह वस्तुतः तटस्थ नहीं है। कुछ घनीभूत होते ही वह अनुकूल-प्रतिकूल रूप ले लेता है। जैसे सूक्ष्म शब्द के निरन्तर होने पर भी हम उसे समझ नहीं पाते। परिणाम यह है कि यदि हम शब्दहीन मन को भी सोचें, तब भी वह यथार्थतः शब्दहीन न होकर सूक्ष्म शब्द युक्त है।

हम जिसे खण्डसत्ता कहते हैं (जैसे घट, फूल इत्यादि) वह प्रकाश की ही एक अवस्था है। परन्तु एक प्रकाश ऐसा भी है जहाँ अवस्था-भेद नहीं है, अखण्ड सत्ता ही है। इसका रूप बोध से अतीत है। इसे दो प्रकार से कह सकते हैं—

1. अवस्थारहित अव्यक्त प्रकाश – यह सत् तथा असत् से परे है।
2. व्यक्त प्रकाश (मूल प्रकाश) यही अखण्ड सत्तारूप है।

इसकी पृष्ठभूमि तो निराकार है। आगे साकार है। मानो पृष्ठभूमि जल है। खण्डसत्ता उसकी तरंग है। एक धर्मी है, अन्य धर्म है। यहाँ जिसे खण्डसत्ता कहा गया, उसका भान अद्वैतरूपेण भी हो सकता है। द्वैतरूपेण भी हो सकता है। अद्वैतरूप में पृष्ठभूमि से पार्थक्य क्रमशः कम होने लगता है। यह साकार पूर्णता में निराकारवत् होकर निराकार में ही मिल जायेगा। परन्तु पुनः वापस भी लौट आयेगा। यह है नित्य साकार। खण्डसत्ता का भान द्वैतरूपेण होता है। उससे परिणाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(घट-पुष्प इत्यादि) प्रकट होता है। इसकी पृष्ठभूमि है प्रकृति। आकृति ही उसकी विकृति है।

इसे दो प्रकार से समझा जा सकता है। (प्रथम) - अव्यक्त अवस्था। द्रष्टा एवं दृश्य एक। इस ज्योति का वर्णन नहीं किया जा सकता। (द्वितीय) इस अवस्था का प्रकाश व्यापक होता है। इस प्रकाश में अभेददर्शन होता है। तरंगरूपेण, आभासरूपेण उसमें भेद का भी दर्शन होता है। प्रधानता अभेद की ही होती है। लक्ष्य में अभेद रखने पर अभेद कैसे देखा जा सकेगा?

अतः बीच-बीच में लक्ष्य में किंचित् भेद रहने पर भी दोनों ही कुछ न कुछ दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वरूपदर्शन इसी प्रकाश में होता है। अर्जुन को कुछ क्षणों के लिए दिव्यदृष्टि मिली। यह वही प्रकाश है। इस प्रकाश में जो प्रकाशमान नहीं है, वह है अवास्तविक।

यदु एक पुष्प देख रहा है। यह उसके चक्षु के आलोक में आलोकित है। यदु के चक्षु हैं इन्द्रिय की सत्ता से सत्तावान्। जब तक वह देखेगा तभी तक उसकी दृष्टि के सम्मुख फूल की सत्ता रहेगी, न देखने पर नहीं रहेगी। रही भी तो किसी अन्य की दृष्टि का दृश्य होकर रहेगी। यहाँ केवल एक ही इन्द्रिय का उदाहरण दिया है।

वैसे ही अविद्या भी पुरुषाकार हो सकती है। यदि राम अपने अधिक बल से उस फूल के आकार में अविद्या की सृष्टि करे, तब यदु उसे नहीं देख सकेगा। उसके लिए वह पुष्प लुप्त हो जायेगा, उसका अदर्शन हो जायेगा। किन्तु यदि यदु की दृष्टि का प्रकाश राम द्वारा सृष्ट अन्धकार से प्रबल हो, तब राम उस पुष्प को अदृष्ट नहीं कर सकेगा। चेष्टा करने से यह अविद्यान्धकार स्वतः लुप्त हो जायेगा। अतः सभी वस्तु की सत्ता में आपेक्षिकत्व है। जिस प्रकाश में वस्तु की सत्ता है, उससे अधिक अन्धकार में आने से वस्तु अदृश्य हो जाती है। प्रबलतर प्रकाश छोड़ने से उसे पुनः देखा जा सकता है। अतएव ब्रह्मदृष्टि से ब्रह्मालोक में वस्तु को देखने से उसका पुनः लोप, अदर्शन नहीं होता। ऐसी कोई भी अविद्या नहीं है, जो ब्रह्मालोक पर प्रभाव डाल सके। इसलिए ब्रह्मदृष्टि से सब कुछ नित्य है। यही पारमार्थिक सत्ता है।

अतः ब्रह्मालोक में सभी वस्तु मिल जाती है। वहाँ कुछ भी खो नहीं सकता। वहाँ चिर प्रकाश है। इस प्रकाश के समक्ष अन्य समस्त प्रकाश अन्धकार के सदृश हैं। अविद्यारूप हैं। फलतः ब्रह्मदर्शी योगी के समक्ष सभी देवता स्तम्भित रहते हैं। स्वयमेव निष्क्रिय हो जाते हैं।

एक विराट् स्फटिक जैसी ज्योति बिखरी हुई है। यही है ब्रह्मज्योति। सभी देवलोक इसी ज्योति में तैरते रहते हैं। देवलोक भी एक तरह का प्रकाशमात्र है परन्तु रंग तथा विचित्रता है। विवेक का सहारा लेकर चलने वाला साधक कैवल्य-पथ पर चलते हुए इस ब्रह्मज्योति में अपनी ज्योति को मिला सकता है। प्रथम स्थिति में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसका अपना प्रकाश इस व्यापक-प्रकाश में होकर भी नहीं मिलता। यह भी कह सकते हैं कि वह व्यापक प्रकाश ही स्व-आलोकरूपेण भासमान हो रहा है। यह निज आलोक स्वप्रकाश है। सांख्यदर्शन इसे ही कैवल्य कहता है। इस प्रकाश के चारों ओर जो शून्य का घेरा है, वही प्रकृति (अव्यक्त) है। यह प्रकाश देखने वाला द्रष्टा है पुरुष! क्रमशः साधक का अपना प्रकाश इस प्रकाश में मिल जाता है। इसे ब्रह्मकैवल्य कहते हैं।

इस कैवल्य में स्थित केवलीगण आत्मनिष्ठ होते हैं। संसार का कार्य नहीं कर सकते। जो अपने प्रकाश के स्वाभाविक वैचित्र्य को निखार कर उसे प्रसारित कर सकते हैं, वे एक-एक लोक का केन्द्र होकर स्थित रहते हैं। यही लोक हैं दिव्यलोक। जैसे समुद्र में द्वीपपुंज तैरते रहते हैं, वैसे ही ये सभी दिव्यलोक व्यापक प्रकाश में तैरते रहते हैं। खण्डभक्ति के पथ पर चलने वाले भक्त अपनी-अपनी रुचि तथा प्रीति के अनुसार अपने-अपने इष्टलोक में प्रवेश करते हैं। केन्द्र का आश्रय लिये बिना इन लोकों में नहीं जाया जा सकता। भक्तगण इन लोकों में जाते हैं। व्यापक प्रकाश में समुद्र की लहरों की तरह अनेक भाव उतराते रहते हैं। ये असंख्य हैं। जब केन्द्रीण देवता तथा भक्त का व्यवधान दूर हो जाता है, तब चरम स्थिति में एक ही भाव रह जाता है, जो महाभाव है। यह महाभाव व्यापक प्रकाश का समसत्ताक है।

हम जब नेत्र खोले रहते हैं, तब बाहर के ही प्रकाश में सब कुछ देखते हैं। यह अन्धकारपूर्ण जगदाकाश प्रकाश से आलोकित होता है। यह भौतिक आलोक से ही आलोकित होने के कारण भूताकाश है। यहाँ जब प्रकाश नहीं रहता, तब कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। इसे देखने के लिए इन्द्रियाँ चाहिये। इन्द्रियाँ न हों, तब प्रकाश होने पर भी कुछ परिलक्षित नहीं होता। यह देहाभिमान की स्थिति है। इसे घेरकर एक अज्ञान है जो विक्षेपात्मक (शोक-मोह आदि) है। आँखें बन्द करने पर जो अन्धकार परिलक्षित होता है, वह अविद्याजन्य वासना के कारण है। जप-साधनादि से यह अन्धकार स्थिति प्रकाशमय हो जाती है।

एक व्यापक प्रकाश है। उसी में नाना प्रकार के प्रकाश तैरते रहते हैं। ये नाना प्रकाश विभिन्न धाम हैं। प्रकाश को देखते-देखते अथवा प्रकारान्तर से उस प्रकाश में स्वयं सर्वतोभावेन् प्रकाशमय हो जाने पर रूपदर्शन होगा। प्रकाशदर्शन नहीं होगा। तभी सालोक्य स्थिति में पृथक् रूप से ज्योतिदर्शन नहीं होता है। जो होता है, वह है रूपदर्शन।

साधक आँखें बन्द करने पर अन्धकार देखता है। यही उसका जगत् है। परन्तु साधना द्वारा यह अन्धकार अस्तमित हो जाता है। तब प्रकाश का उदय होता है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्दधाम

विपुल प्रान्तर का भेदन किये बिना आनन्दधाम नहीं मिलता। यह प्रान्तर विषयराज्य तथा भगवत्धाम के मध्य अवस्थित है। विषयराज्य के प्रति जब पूर्ण वैराग्य आ जाता है, तब संसारस्थ कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जब इन्द्रियगोचर तथा मन-बुद्धिगोचर पदार्थ रसहीन लगें तथापि सत्यधाम का अता-पता न मिले, तब यह जानना चाहिये कि जीव प्रान्तर में है। यह एक मरुभूमि जैसी अन्धकाराच्छन्न आश्रयवर्जित स्थान-सी स्थिति है। श्रीहरि की आराधना का यही प्रशस्त स्थान तथा काल है। इस आराधना के फल से उनके श्रीचरण में आश्रय मिलता है। जो आराधना विषयराज्य में रहकर की जाती है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि तब मन अधिकांशतः संसार में निमज्जित रहता है। प्रान्तर की प्रार्थना है, साधना ही यथार्थ प्रक्रिया है। क्योंकि वह वैराग्य में निमज्जित स्थिति है। वैराग्य के अभाव में आराधना सफल नहीं होती।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बलि

बलि का रहस्य अतीव गम्भीर है। चौरासीलाख योनि के पश्चात् मनुष्य-देह मिलने के अनन्तर तब कर्माधिकार आता है। दीर्घकाल के अनन्तर शुभकर्मों के प्रभाव से दिव्यभाव की प्राप्ति होती है। मनुष्येतर जीवों को साक्षात्रूप में देवत्व-लाभ कदापि नहीं हो सकता। मनुष्य होने पर भी देवत्व-लाभ दीर्घसाधना से मिलता है। मनुष्य में भी पशुत्व होने के कारण देवता का उपादान पाने के लिए पशुत्व की निवृत्ति आवश्यक है।

जिस मन्दिर में, प्रतिमा में अथवा यन्त्र में देवता जाग्रत् हो जाते हैं, वहाँ चारो ओर उनका प्रभामण्डल होता है। वहाँ यदि किसी जीव का लिंगदेह स्थूलदेह से पृथक् हो जाता है, तब वह लिंगदेवता से युक्त होकर दिव्यभावपन्न हो जाता है। लिंग जितना अधिक देवता में अर्पित होगा, वह उतना दिव्य होगा। यदि वह पृथक् होना योगी की क्रियावस्था में हो (अर्थात् जैसे योगी के क्रिया करते समय उसका लिंगदेह स्थूल देह से अलग हो जाता है) वह अस्थायी होगा। इसे आंशिक कहते हैं। यदि जीव का लिंग स्थूल से ऐसे स्थान पर पृथक् होता है जहाँ देवमण्डल नहीं है, तब कुछ भी नहीं होगा। क्योंकि वहाँ उसके लिंग को आकृष्ट करने वाला कोई भी नहीं रहता।

मनुष्येतर जीव मनुष्य द्वारा बलि दिये जाने पर देवत्व-लाभ करता है। वह पुनः नीची स्थिति में नहीं उतरता, क्योंकि पशु का कोई कर्मसंस्कार नहीं होता। इसलिए उसके नीचे उतरने की कोई सम्भावना नहीं है। यह जो देवभाव मिलता है, यह कर्मदेव भाव नहीं है। आजान देवभाव उसे प्राप्त होता है। बलि इसलिए आवश्यक है कि जीव अपने से स्वयं को अर्पित नहीं कर सकता। यदि वह स्वयं अपने को अर्पित कर सके, तब कोई पीड़ा नहीं रह जाती। यही यथार्थतम् बलि है। यह लिंग देह तथा स्थूल देह का पृथक् भाव होने से सम्भव होता है, अन्यथा नहीं हो सकता। बलिकाल में यह अवश्य हो जाता है, मन्त्र तथा साधक के प्रभाव से। अर्पण का अर्थ है अर्प्यमान वस्तु में ममत्व तथा अहन्ता का त्याग करके परकीयत्व का अनुभवोत्पादन। यह स्वयमेव होता है।

मनुष्य पुण्यकर्म करके जिस देवत्व को प्राप्त करता है, कर्मक्षयोपरान्त उससे पतन होता है। क्योंकि इस अवस्था में पुण्य क्षयीभूत होता रहता है और ज्ञान का उदय नहीं हो सका है। एतद्विपरीत ज्ञान से जो देवत्व मिलता है, वह आगन्तुक धर्म न होकर आजान देवत्व है। अतः वास्तविक दीक्षा का जो तत्त्व है, बलि का भी वही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्त्व है। दीक्षा में गुरु का जो स्थान है, बलि में बलि देने वाले का वही स्थान है। बलि से देवता तथा बलि देने वाले, दोनों का लाभ होता है। देवता को बलि दिये गये जीव के लिंगदेह का उपचय होता है। इससे देवता की आत्मतुष्टि होती है और आत्मप्रसारण होता है। अब देवता क्रमशः परदेवता की ओर अग्रसर होने लगता है। इससे बलि देने वाले के ऊपर देवता का आशीर्वाद पड़ता है। बलि ही देवता का आहार्य है। बलिदाता को यह आशीर्वाद तथा देवभावापन्न पशु का (जो बलि दिया जा चुका है उसका) आशीर्वाद एक साथ मिलता है। इससे बलिप्रदाता क्रमशः देवभावापन्न स्थिति की ओर अग्रसर होने लगता है। बलि को अहेतुक कृपा कहना चाहिये।

मनुष्य अपने को आप ही पूर्णभाव से बलिदान नहीं कर सकता। उसे अपने अहं की बलि देना है। यही वास्तविक आत्मसमर्पण है। वही अहंकार निवृत्ति है, जो परावस्था है। यह कृत्य मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। इसलिए अन्य का अनुग्रह चाहिये। जो अनुग्रह कर सकने में सक्षम है, वही है गुरु (दीक्षागुरु) तथा बलिदाता।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामकरण

शरीर उत्पन्न हुये बिना नाम नहीं होता। फिर हमारे इस शरीर के अभ्यन्तर में एक अन्य शरीर भी है। जब उसका विकास होता है, तब उसका नामकरण करना पड़ता है। यही है भीतर का रूप। यह विशुद्ध ज्ञानदेह अथवा आनन्ददेह है। उस नाम से पुकारने से वह देह अथवा देही उत्तर देगा।

इस नामकरण का भी रहस्य है। जो नाम देते हैं, उनका भाव उसी रूप में संचारित होता है और वह भाव उसी नाम से जड़ित रहता है। जैसे कृष्ण के एक नाम गोविन्द में जो शक्ति है, वह अन्य नाम मुरारी में नहीं है। जिन्होंने कृष्ण का नाम गोविन्द रखा था उनका समग्र भाव उस नाम के उच्चारण के साथ उस रूप में आविर्भूत होता है। जब कृष्ण गोविन्द नाम से जो उत्तर देंगे, तब वे उन सारे भाव से भूषित होकर ही उत्तर देंगे। अन्य नामों के साथ भी ऐसा समझना चाहिये।

जिस किसी नाम अथवा मन्त्र द्वारा जिन साधकों अथवा ऋषिगण ने जप किया है, उस नाम अथवा मन्त्र में उस सभी साधकों, ऋषिगण की विशिष्टता भी आ जाती है। उसके स्वगत वैशिष्ट्य की यहाँ चर्चा नहीं की गयी है।

•

रंग

जगत् की अन्तिम सीमा में रंग है। उसके बाद वस्तु है। हम वस्तु को नहीं देख पाते। केवल रंग को ही देखते हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना एक रंग होता है। उस वस्तु के आविर्भाव से वह रंग प्रकट होता है। प्रकारान्तर से भी वह रंग निखारा जा सकता है। चाहे जिस रूप में रंग हो, उस रंग के आविर्भूत होने से ही समझना चाहिये कि उसकी पृष्ठभूमि में वह रूप है। उस रूप को अभिव्यक्त करना होगा। (अतः सभी देवों के अलग-अलग रंग हैं। राम-कृष्ण नील हैं, माँ काली कृष्णवर्णा, ललिता रक्तवर्णा, सरस्वती श्वेतवर्णा, हनुमान सिन्दूरवर्ण इत्यादि)। उस रंग की जमीन में बीज (बीजमन्त्र) वपन कर देने से ही उस रूप का विकास होगा। तीव्र एकमुखी चिन्तना से भी रंग को पाया जाता है। वह रंग वस्तु अथवा रूप की प्रभा है। रूप नहीं है। उस रंग का भेदन होने से ही रूप की उपलब्धि होगी। तब रूपधातु में प्रवेश होगा। भगवान् जिस प्रकार योगमाया से समावृत हैं, वैसे ही प्रत्येक देवी-देवता या जीव भी यहाँ तक की वस्तु भी अपनी-अपनी प्रभा (रंग) से आच्छन्न हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यही प्रभा या योगमाया या वर्णमय प्रकृति ही क्षेत्र है। चिद्बीज डालने से उससे रूप का आविर्भाव होता है! यह व्यावहारिक सत्ता है।

●

भाव

भाव तथा आवेग से गति होती है। लक्ष्य जब स्थिर होता है, तब भाव लक्ष्य तक पहुँचता है। यदि लक्ष्य स्थिर नहीं है तब यह घूर्णन वायु की सृष्टि करता है, जिसे क्षिप्तता कहते हैं। इसलिए अनेक आचार्य भाव त्यागने को कहते हैं। लेकिन भाव उत्तम वस्तु है यदि लक्ष्य स्थिर हो। दृष्टि के सम्मुख लक्ष्य रहने से भाव से हानि नहीं होती। भाव भी प्रकारत्रय में कहा गया है।

प्रथम आवरण हटने से सद्भाव का विकास होता है। अखण्ड, अनन्त सत्ता की स्फूर्ति होती है। सर्वत्र जो अभेद है, उसका ज्ञान होता है। यही है साम्यदर्शन।

द्वितीय आवरण हटने से चिद्भाव का साक्षात्कार होता है। जब तक यह आवरण रहता है, तब तक चैतन्योपलब्धि नहीं हो सकेगी।

तृतीय आवरण हटने पर आनन्दभाव की उपलब्धि होती है। इस आवरण के हटे बिना आनन्दभाव नहीं आता।

चतुर्थ आवरण हटने से आनन्दभाव भी कट जाता है।

पंचम आवरण हटने से चैतन्यभाव भी कट जाता है। केवल सत्ता रह जाती है।

षष्ठ आवरण कटने से सत्ता भी नहीं रहती। यह सत् तथा असत् से भी परे की अवस्था है। अव्यक्तपद है।

भाव को प्रकट करने के लिए Concrete की ही सहायता लेनी पड़ती है, किन्तु Concretisation प्रकृति का कार्य है। यह अपने आप होता है। यह बुद्धिपूर्वक नहीं होता। लेकिन क्षेत्र में बीजाधान आवश्यक है। भाव अर्थात् बीज। यदि यह देवक्षेत्र में बोते हैं, तब देवताओं की भाषा में भाव होता है। मनुष्य क्षेत्र में बोने से मनुष्य भाषा का भाव होता है। जिस व्यक्ति-विशेष के क्षेत्र में अथवा क्षेत्र प्रतिबिम्ब में इसे (बीज को) बोया जायेगा, वह उसी भाषा में प्रकट होगा।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवता

देवतागण स्वाधीन नहीं हैं। वे नियमाधीन हैं। उनकी क्षमता अधिक है, परन्तु वे भगवदिच्छा या नियति अथवा भगवान् के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकते। वे केवल कर्मफल देते हैं। कर्म का नेतृत्व किसका है? जीव का नहीं, देवता का नहीं। यह है स्वभाव अथवा भगवान् का। सत्य तो यह है कि जो अन्तर्यामी ईश्वर कर्म की प्रेरणा देते हैं, वे ही आनन्दरूप फल प्रदान करते हैं। फल देना होता है, तो कर्म करा लेते हैं। लगता है कर्म ही फल देता है, ऐसा नहीं है। कर्म अर्थात् प्रवृत्ति। कर्म सामर्थ्य भी उन भगवान् की कृपा है। वस्तुतः अपनी चेष्टा से कुछ नहीं होता। तब तक देवगण भी दूसरे की कोई सहायता नहीं कर सकते, जब तक अन्तर्यामी की प्रेरणा न हो।

देवता के आविर्भूत होने के पूर्व साधक केवल उनकी ज्योति देख पाता है। उसके पश्चात् दीर्घकाल तक उस ज्योति-दर्शन से आँखों के अभ्यस्त हो जाने के उपरान्त अपने उपादान के उस सत्ता से सत्तावान् हो जाने पर रूपदर्शन होता है। देवता ज्योति संहरण करके भी रूप प्रदर्शन कर सकते हैं, परन्तु साधक उससे अभिभूत हो जाता है, मर भी जाता है। देवता के तेज को आत्मसात् करते-करते तभी देवता का दर्शन होगा। और भी एक रहस्य है। 'क' तथा 'ख' का सान्निध्य होने से पूर्व पहले 'क' की प्रभा 'ख' की प्रभा से क्रमशः अभिभूत होती है। (जप, ध्यान, उपासना आदि से यही होता है।) तदनन्तर 'ख' की प्रभा परिलक्षित होती है। पुनः-पुनः यह देखते-देखते 'ख' का रूपदर्शन होता है। तब तक 'क' भी 'ख' के प्रभामण्डल के अन्तर्गत हो जाता है। यही सालोक्य है, परन्तु है सामयिक। तदनन्तर जब साधक आयु पूर्ण होने पर मरता है, तब जीवात्मा की उसी लोक में गति होती है। अब भय नहीं रहता। परन्तु स्थूल देहावस्थान स्थिति में स्थायी सालोक्य नहीं होता।

देहावस्थानकाल में यदि साधक और उन्नत होता है, तब देवरूप प्राप्त करता है। सालोक्य स्थायी हो जाने पर 'क' की छायामयी प्रभा सदा के लिए अभिभूत हो जाती है। अपनी प्रभा नहीं रह जाती। 'क' स्वयं प्रभारूप हो जाता है। यह है दास्यभाव। सारूप्य स्थिति में उस लोक का वासी साधक अपने देवता के प्रभामण्डल के अन्तर्गत हो जाता है। सार्ष्टि स्थिति वाले साधक अपनी शक्ति के अधीन होते हैं, किन्तु यह आपेक्षिक है। उसके अनन्तर समान सत्ता का लाभ होता है। यह सायुज्य है। अब साधक एक प्रकार से अपने देवता के ही रूप को प्राप्त करता है। यहाँ से निर्गुण राज्य प्रारम्भ है। सामीप्य को सालोक्य तथा सारूप्य का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मध्यवर्ती कहते हैं। लीलावादी भक्त यहीं तक जाना चाहते हैं। यहाँ विरह जो है। सारूप्य के बिना विरह नहीं कटता। सालोक्य में केवल रूप-दर्शन होता है। सामीप्य में सेवा करने का अधिकार मिलता है। मंजरी तथा सखी इसी भाव में हैं। सामीप्य में ही दास्यभाव नाना प्रकार से परिपुष्ट होता है।

ज्योतिदर्शन बाहर होता है। रूपदर्शन भीतर से होता है। रूपदर्शन से ही संकेत मिलता है कि साधक ने इष्टधाम में स्थान पा लिया। पूर्णावस्था प्राप्ति के पूर्व किन्तु रूपदर्शन प्राप्त करने के उपरान्त मृत्यु हो जाने पर साधनानुरूप दिव्यावस्था मिलती है। सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य आदि जो स्थिति मिलती है, उसमें दीर्घातिदीर्घ काल रहना पड़ता है। कोई मृत्यु के उपरान्त सालोक्य प्राप्त करके वहाँ से सारूप्य बहुत दिनों में प्राप्त करता है, किन्तु स्थूलदेह रहते सालोक्य से सारूप्य प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगता। हममें से अनेक कहते हैं, "मैं तुम्हारा दास हूँ" परन्तु कहने भर से कोई दास नहीं हो जाता। जब तक रूपदर्शन न हो, कोई दास नहीं हो सकता।

देवदर्शन की चतुर्विध अवस्था है। साधक देवता को नहीं देखते, देवता भी साधक को नहीं देखते। यह संसारावस्था है।

साधक देवता को नहीं देखते, किन्तु देवता साधक को देखते हैं। यह दीक्षा के उपरान्त की अवस्था है।

साधक देवता को देखते हैं, देवता भी साधक को देखते हैं, यह सिद्धावस्था है।

साधक देवता को देखते हैं, देवता साधक को नहीं देखते। अब साधक ईश्वर-भूमि में है।

अब साधक द्रष्टा एवं जाग्रत् होते हैं, देवता मोहग्रस्त एवं समाहित हैं।

देवदर्शन कहाँ होता है? चित्ताकाश में देवदर्शन होता है। गुरुदर्शन कहाँ होता है? चिदाकाश में गुरुदर्शन होता है। देवदर्शन के पूर्व चित्ताकाश परिष्कृत होकर आलोकित हो उठता है। चित्ताकाश से चिदाकाश में जाने का मार्ग है ब्रह्मनाड़ी। वास्तव में चिदाकाश से ही प्रकाश उतरकर चित्ताकाश के अन्धकार को हटाता है। तदनन्तर उसमें देवरूप से देदीप्यमान होता है। अत: गुरु के बिना देवता को कौन दिखलायेगा? वास्तव में गुरु ही देवरूपेण आविर्भूत होते हैं। अब जो प्रवाह चिदाकाश से चित्ताकाश में उतरा था, वही लौटकर चिदाकाश की ओर जाता है। अत: देवता ही साधक को गुरु के पास पहुँचा देते हैं। अब सगुण का पर्यवसान होता है निर्गुण में।

सर्वाग्र में सूर्योदय के पूर्व आकाश निर्मल होता है, तब सूर्य उदित होते हैं। अब जो सूर्य उगा, उसी के प्रभाव से पूर्व दिशा का आकाश देदीप्यमान होता है। इसी प्रकार देवाविर्भाव के पूर्व चित्ताकाश प्रकाशित होता है। यह होता है उनकी ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्योति से। अतः जो यह कहते हैं कि पहले चित्त शुद्ध करो, तब देवदर्शन होगा, उनका कथन सारहीन है। क्योंकि चित्तशोधक तो देवता की ज्योति ही है।

यहाँ कहा गया है कि चित्ताकाश में देवाविर्भाव होता है। पहले रूप का आविर्भाव होता है। तदनन्तर उसके चेतन होने पर चेतनरूप आविर्भूत होगा। यह ऊपर से ज्योति उतरने पर होता है। कहाँ पर? हृदय में, आज्ञाक्षेत्र में, चित्ताकाश में। पक्षान्तर से नीचे की ओर से पंचभूत का सारांश ऊपर उठता है। इन सबको आविर्भूत ज्योति में अर्पित करना चाहिये। अब वह ज्योति पुष्ट होकर ऊपर की ओर उठती है। यह अर्पण ही है भोगदान, निवेदन। तदनन्तर प्रणाम अर्थात् आत्मसमर्पण। अब साधक अपनी सत्ता को उस ऊर्ध्वगामी प्रवाह में बहने देता है। वह प्रवाह ऊपर जाकर शान्त होगा। क्या-क्या ऊपर उठता है? गन्ध, रस, तेज, वायु, शब्द उठता है। देवता में गन्ध नहीं होती। वह इसी गन्ध को मलकर सुगन्धित होता है। गन्ध से देवता आच्छन्न होते हैं। रसरूपी जल से उनका स्नान होता है। तेज से उनकी आरती होती है। ज्योति से, तेज से वे उद्भासित होते हैं। वायु से हिल्लोलित होते हैं, जो उनको चँवर व्यजन करना है। शब्द शंख-घण्टादि के रूप में प्रकट होता है। प्रणाम के साथ-साथ सब लीन हो जाता है। साधक स्वयं भी लीन हो जाता है। यही है ध्यान, समाधि और स्थिति।

देवता दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक (अजान) तथा कर्मजन्य। कर्मदेवता वे हैं, जो पहले मनुष्य थे। पुण्यकर्म के कारण उनको देवत्व मिला। साधारणतः मृत्यु के पश्चात् पहले पुण्यात्मा जीव पितृलोक जाता है। तदनन्तर देवता होता है। कर्मदेवगण के विभिन्न स्वर्ग हैं। भोगक्षय होने पर ये अपने-अपने लोकों से च्युत होकर मृत्युलोक में जन्मते हैं। भोगकाल जब करीब समाप्त होने लगता है तब इनकी माला म्लान होने लगती है, स्वेदकण झलकने लगते हैं। आदि।

एक और कोटि के देवता हैं। वे आजान तथा कर्मदेवता के सम्मिलित लक्षणों से युक्त होते हैं। इनका पतन कर्मदेवों जैसा नहीं होता। हाँ, अवतरण हो सकता है। तदनन्तर लौटकर अपने स्थान पर चले जाते हैं अथवा और उन्नत गति पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वलोकों में आजान देवता हैं। इनकी उपासना करके मनुष्य उनका लोक, रूप आदि प्राप्त करता है। ये सब दिव्यधाम भूमि के अनुसार विन्यस्त होते हैं। भूमिभेद का मूल है शुद्धसत्व की तारतम्यगत मात्रा की अभिव्यक्ति। ऊर्ध्व आजान देवों के लोकों में जो साधक जाते हैं, वे सालोक्य, सारूप्य आदि किसी भी अवस्था में क्यों न हों, जन्म ले सकते हैं, इनका जन्म देवांश में होता है।

देवताओं की जरामृत्यु नहीं है। देवता अपने मण्डल के बाहर स्वभावतः नहीं देख पाते। वे मण्डल को भी अपने ज्योतिरूप में देखते हैं। जो भक्त उस मण्डल में प्रविष्ट हैं, उन्हें ज्योतिरूप में देखते हैं। जो अधिक अग्रसर हैं, वे उन्हें रूपवान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देखते हैं। उस समय देवता भी अपने को रूपबोध से युक्त देखते हैं। उसके पश्चात् स्वयं में भक्त को देखते हैं। यह है भक्त का उत्कर्ष। उसके अनन्तर देवता तथा भक्त में द्वैत नहीं रह जाता। यहाँ तक विचित्रता है। जिनको देवता का मन्त्र प्राप्त नहीं है, अथवा जो मण्डलान्तर्गत नहीं हैं, उनको देवता नहीं देख पाते। कोई भी देवता बाहर के किसी को नहीं देखते। लेकिन करुणामय दृष्टि से जब देवता देखते हैं, तब जो बाहर है, वह भी देवता की ज्योति पाकर देवता का सालोक्य पाता है। लेकिन करुणादृष्टि की भी एक सीमा है। अपूर्ण देवता के लिए विश्वव्यापी करुणादृष्टि सम्भव नहीं है। जब करुणादृष्टि का प्रसार तथा अन्तर्भेदनशीलता अनन्त है, तब वह बुद्ध है। लेकिन जो सान्त है—जिसकी करुणा-दृष्टि सान्त है, वह है बोधिसत्व अथवा उसके समकक्ष। परन्तु करुणा-दृष्टि स्वकीय भाव से परिच्छिन्न होती है, अतः कहा जाता है कि देवता सबको नहीं देखते।

सबको कौन देखता है? सबको धर्म देखता है। उसकी दृष्टि समान, व्यापक तथा सर्वत्र वर्तमान है। वह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। परन्तु उसकी दृष्टि में करुणा नहीं है। धर्म तराजू से तौलकर कर्मफल देता है। उसके यहाँ भूल-त्रुटि नहीं होती। उसका नियम अलंघ्य है। जीव धर्म की दृष्टि से भयभीत रहता है। धर्म ही साक्षी है। उसे पल-पल की खबर है। वह सबको देखता है। इसी समदृष्टि से जगत् चलता है। परन्तु जहाँ करुणा-दृष्टि पड़ती है, वहाँ धर्म की समदृष्टि निष्प्रभ हो जाती है। करुणा के आगे धर्म क्या कर सकेगा? करुणा-दृष्टि से ही जीवोद्धार होता है। इसकी परिधि में आने पर, इसका आश्रित हो जाने पर, इस करुणा-दृष्टि से पूत होकर साधक अथवा व्यक्ति धर्मराज्य की सीमा से परे हो जाता है। धर्मराज्य भी उसके लिए करुणामय हो जाता है। करुणा के बाहर कानून काम कर रहा है। इस स्थिति में जीव अनाश्रित है। इसलिए अहंकारी अथवा कर्ता बनकर काम करता रहता है। यह कानून तथा नियम के राज्य में ही हो सकता है। तब जीव कर्त्ता है। कराता कौन है? कराने वाली है माया-त्रिगुण। अथवा कराने वाला है शैतान! जीव अभी देवता के राज्य में नहीं है। शैतान के राज्य में है। देवता ही इससे त्राण दिलाते हैं।

मनुष्य की देह से रेडियेशन हो रहा है। यह उसके उपादान का विकिरण है। यही उसका लोक है। यह रेडियेशन का पूर्ण सर्किल (घेरा) ही उसका पिण्ड है। यह छायामय विकिरण है। प्रक़ाश की छाया है, रंग-बिरंगी कुहासे जैसी घटा। प्रकृति भेद से यह छाया-छटा भिन्न-भिन्न हो सकती है। वस्तुतः यही उसका रूप है। यदि इस रेडियेशन को कौशल से रोका जा सके, तब व्यक्ति दिखलाई नहीं पड़ेगा। लोगों की दृष्टि की किरण इस रेडियेशन से ही मिलित होती है। रूप की किरण निरुद्ध हो जाने से रूप अदृश्य होगा, तथापि रूप समाप्त नहीं हो जायेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समभूमि में ही दर्शन होता है। जब मनुष्य व्यवहार जगत् में रहता है, काम करता है, देखता-सुनता है, चिन्ता करता है तब वह घटा चतुर्दिक् बिखरती है। ऐसा सदैव हो रहा है। यहाँ तक कि निद्रा में भी।

परन्तु जब मनुष्य देवाराधन में है, तब उसे अपने पूर्व विकिरण को साधनादि से रुद्ध कर लेना होगा। आराधना के क्षण में देवता की ज्योति फूटती है। क्रमशः अधिक होती जाती है। वह साधक ज्योति को देख पाता है। और भी अधिक होने पर जब देह ज्योतिर्मय हो जाती है, तब वह दिव्यदेह होता है। वास्तव में यह दिव्यदेह भी कृत्रिम है। इसकी परावस्था में ज्योति चतुर्दिक् विकीर्ण होने लगती है, तब बाहरी व्यक्ति भी ज्योति देख सकते हैं। इसकी भी एक परावस्था है, जिसमें ज्योति का उपसंहार है। तब उस दिव्यदेह को कोई भी देख नहीं सकता। मनुष्य अथवा देवता भी नहीं देख सकते, तथापि रूप रह जाता है।

देवता चलने-फिरने, व्यवहार तथा चिन्तन करने के समय भी ज्योति बिखेरते हैं। ज्योति सर्वकाल में विकीर्ण हो रही है, तथापि योगावस्था में ज्योति का संहार हो जाता है। तब देवता-दर्शन नहीं होता। परन्तु अभेद की अवस्था में कोई संहत् ज्योति वाले देवता को भी देख लेते हैं। यह चरमदर्शन है, जो साकार आत्मदर्शन भी है। जिस देवता का चिन्तन होता है, उसे देखा जाता है। जैसे नारायण देवता।

उनकी मूर्ति में भक्ति के साथ, मन्त्र के द्वारा, एकाग्र होकर चिन्तन करने से मूर्त्ति शुद्ध होती है और वह मूर्ति नारायण के सम्मुखीन हो जाती है। (भावरूप में) अब नारायण की दृष्टि उस मूर्त्ति पर पड़ती है। उनकी दृष्टि पड़ने से मूर्त्ति सजीव होती है। भक्ति, मन्त्रादि के प्रभाव से नारायण का चित्त क्षुब्ध होता है। वह क्षण के लिए बाह्य की ओर देखते हैं। उन्हें मूर्त्ति दिखलाई पड़ती है। अब वह मूर्त्ति सात्मक हो जाती है। अब अभक्ति-अनाचार आदि उस मूर्त्ति प्रतिबिम्ब में नहीं रह पाते। बाद में उस सात्मक (आत्मायुक्त) मूर्त्ति की दृष्टि साधक पर पड़ती है। (नामचिन्तना से उस नाम पर देवता की दृष्टि पड़ती है। नाम चेतन हो जाता है। जो नारायण का चिन्तन करेगा, उस पर नारायण की दृष्टि पड़ेगी।) कुछ अग्रसर होने पर नारायण स्वयं मूर्त्ति में आ सकते हैं। और अग्रसर होने पर नारायण देवता मूर्त्ति से बाहर आ सकते हैं। अत्यन्त अग्रसर होने पर नारायण देवता साधक में प्रवेश कर सकते हैं। पहले कहा गया है कि देवताओं में जरा-मृत्यु नहीं होती। उनकी जन्म-मृत्यु मर्त्यलोक जैसी नहीं है। यह आविर्भाव-तिरोभाव मात्र है। दिव्यदेह क्षणमात्र में प्रादुर्भूत होता है। इसलिए जन्म के समय होने वाला दुःख देवताओं को नहीं होता। परन्तु जरारूपी क्षय देवताओं में भी है। यह अत्यन्त धीमी ग़ति से होता है। अतः प्रतीत नहीं होता। स्वर्ग में नाना कारणों से देवताओं का देहक्षय होता है। परन्तु ऐसा ऊर्ध्व-शुद्धसत्व के लोकों में नहीं होता। इन्द्र की व्याधि, प्रजापति का वायुजन्य क्षय, दक्ष के शाप से सोम का क्षय सर्वप्रसिद्ध है। प्रजापति ने नक्षत्रों के राजा सोम को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कन्यादान किया, किन्तु सोम रोहिणी में आसक्त हो गये। इसके कारण इस अनृत व्यवहार के कारण यक्ष्मा ने उनपर आक्रमण किया। लिंग शरीर की निवृत्ति होने तक दु:ख तो रहेगा ही। इसीलिए देवलोकों में भी अनेक दु:ख हैं। जैसे प्रजापति को अक्षिरोग, इन्द्र को गौतमकृत परिभव, नागों को सर्पयज्ञ (जनमेजय कृत) से भय, पिशाचों का मन्त्रौषधि मंगल प्रयोग से उद्वासन आदि।

सांख्याचार्य आठ देवयोनि का वर्णन करते हैं, ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र (त्रिदशगण), पितृगण, गन्धर्वगण, नागगण, रक्षोगण, पिशाचगण! असुरगण इन्द्रस्थान के अन्तर्भुक्त हैं, क्योंकि ये पर्यायक्रम से इन्द्रत्व पाते हैं। यक्षगण तो रक्षगण के अन्तर्गत हैं। किन्नर तथा विद्याधर की गणना गन्धर्वगण के अन्तर्गत होती है। प्रेतगण पितृ के अन्तर्गत हैं। साध्य, रुद्र आदि को भी वैसा ही समझना होगा।

देवता सिद्धि के लिए प्रथमत: देवता को देखना होगा। उसके अनन्तर देवता होना होगा। उसके अनन्तर देवता से आगे जाना होगा। देवता को अंगीभूत कर लेने पर ही देवतागण शक्तिरूप में परिणत होते हैं। देवता का दर्शन क्यों नहीं मिलता? आवरण के कारण। यह आवरण कर्म से टूटता है। देवता का दर्शन मिल जाने पर भी देवता क्यों नहीं हो पाये? आवरण के कारण। यह टूटता है उपासना से। देवता होकर भी देवता से अतीत क्यों नहीं हो पाये। आवरण के कारण। यह टूटता है भक्ति से। द्वितीय आवरण उपासना से टूटने पर उपासना ज्ञान के रूप में पर्यवसित हो जाती है। तब देवता से अभेद हो जाने पर देवता की कृपा से भक्ति अपने आप ही आ जाती है।

देवता पंचभूत से आवरित हैं। आत्मा देवता से आवरित है। पहले भूत से अलग करके देवता को बाहर करना होगा। देवता जब बाहर प्रकट हो जाते हैं, तभी उपासना हो सकती है। इसका फल है तादात्म्य प्राप्ति। इसके अनन्तर ज्ञान द्वारा देवता से आत्मा को Extract करके बाहर किया जाना चाहिये। आत्मा पूर्णत: बाहर आ जाये, तब ज्ञान शेष हो जाता है। अब आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। उसके अनन्तर भक्ति के कारण आत्मा से परमात्मा अलग हो जाते हैं। यह है परमात्मभाव की पूर्णता तथा भक्ति की चरमावस्था। अब परमात्मा तथा पूर्णब्रह्म अभिन्न हैं। इसके अनन्तर पूर्णब्रह्मज्ञान में परमात्मा पूर्णब्रह्म से अलग होते हैं। अब ब्रह्मज्ञान भी नहीं रह जाता। एकमात्र परमात्मा ही रहते हैं।

प्रथमावस्था है, जब पंचभूत देवता का आवरण है। कर्म करने से भूत से देवता पृथक् हो जाता है। अब भूतसमूह ही उसका शक्ति स्वरूप हो जाता है। भूत की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यह है भूतजय। कर्म का शेष है = भूतसमूह का देवतास्वरूप में दर्शन। कर्म का आरम्भ है–देवता का भूतरूपेण दर्शन।

द्वितीयावस्था—देवता जब आत्मा में हैं। देवतारूप में ही आत्मा का प्रकाश होता है। उपासना से आत्मा पृथक् होता है। तब देवता ही आत्मा का शक्तिरूप है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवता की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। यही है देवता जय। उपासना का शेष = देवता का आत्मरूप में दर्शन। उपासना का आरम्भ है = आत्मा का देवता रूप में दर्शन।

तृतीयावस्था—आत्मा जब परमात्मा में है। आत्मारूप में परमात्मा का प्रकाश। ज्ञानबल से परमात्मा पृथक् होते हैं। अब आत्मा उनका शक्तिरूप है। आत्मा की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। यह है आत्मजय, ज्ञान का शेष = आत्मा का परमात्मारूपेण दर्शन। ज्ञान का आरम्भ = परमात्मा का आत्मरूपेण दर्शन।

चतुर्थावस्था—परमात्मा जब पूर्णब्रह्म में हैं। भक्तिबल से पूर्णब्रह्म पृथक् होते हैं। अब परमात्मा उसी के अन्तर्गत भक्तिस्वरूप से होते हैं। यह है परमात्मा जय। भक्ति का शेष = परमात्मा का पूर्णरूप में दर्शन। भक्ति का आरम्भ = पूर्ण का परमात्मा रूप में दर्शन।

पंचमावस्था—पूर्ण में स्थिति। अब पूर्णज्ञान (ब्रह्मविद्या) उसी के अन्तर्गत है।

देवता के नाम का सम्बन्ध उसके रूप के साथ होता है। मन्त्र का सम्बन्ध ज्योति के साथ होता है। जब देवता का आविर्भाव होता है, तब उपास्य-उपासक एकाकार होते हैं। उस समय देवता में 'मैं अमुक देवता हूँ' ऐसे एक अस्मितात्मक अभिमान का उदय होता है। उसके बाद ही उपासक के अलग होने पर उसमें भी वह स्मृति जगती है। उस स्थिति में उस नाम से पुकारने पर वह देवता का उत्तर पाता है। बीज से केवल चैतन्यभाव उद्रिक्त होता है। उससे देवता में यह भाव नहीं आता कि 'मैं अमुक देवता हूँ'। यह भाव नाम से आता है।

देवता को नाम से नहीं जगाया जाता। वह यदि जागे हों, तभी नाम से वह अभिमुखीन होते हैं। उनका ध्यान साधक नाम द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। तब बातें होती हैं। परस्परतः भाव का आदान-प्रदान होता है। बीज से जगाया तो जा सकता है, अभिमुखीन नहीं किया जा सकता। प्रणव से भी देवता जागते हैं। समग्र विश्व प्रणव से जाग जाता है। नाम-जप करते-करते उस देवता के भक्तों की दृष्टि साधक की ओर आकृष्ट होती है। यही गुरु-प्राप्ति है। तब बीज मिलता है। अब देवता जागता है। अब जो नाम फूटता है, वह चिन्मय नाम है। पहले वाला नाम जड़ था। ज्योति के राज्य में वह चिन्मय है।

देवता को बुलाने पर उन्हें आसन, पाद्य आदि भोज्य देना होता है (मानस भी दे सकते हैं)। जब तक देवता अव्यक्त हैं, उनको कुछ नहीं चाहिये। परन्तु अभिव्यक्त होते ही सब कुछ चाहिये। जागते ही उनका आभास मिलता है। वे जागने पर हमारी प्रार्थना सुनते तथा उत्तर देते हैं। बुलाने का दो तात्पर्य है। प्रथम है सम्बोधन अथवा जागरण। अव्यक्त का व्यक्तीकरण। द्वितीय है अभिमुखता सम्पादन। तदनन्तर बातचीत, भाव विनिमय। लेकिन जब सत्त्व पूर्णतः शुद्ध होता है, तब देवता की निद्रा रहती ही नही। साधक की भी नहीं रहती। एकबारगी विशुद्ध हो जाने पर जगाने अथवा पुकारने का प्रयोजन ही नहीं रहता। सर्वदा जगे हुए हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवता जागते ही खाद्य चाहते हैं। यह पहले कहा गया है। खाद्य न मिलने पर सो जाते हैं। प्रेम, पूजा, ध्यान, जप इत्यादि सभी देवता के खाद्य हैं। आलम्बन अथवा विषय ही खाद्य होता है। यही आधार है। निराधार देवता अथवा चैतन्य अव्यक्त है। उसकी उपासना कैसे होगी? क्योंकि उसे आहार की आवश्यकता नहीं है। वह निष्क्रिय है। सत्व की सत्ता में चैतन्य का स्फुरण सापेक्ष होता है। चैतन्य का स्फुरण अर्थात् संघर्ष एवं आहार, अर्थात् सत्व के साथ रजः एवं तमः। जब तक रजः एवं तमः का सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक सत्व चैतन्य को धारण नहीं कर सकता। क्योंकि चैतन्य को खाद्य—आहार चाहिये। आहार समाप्त होने पर व्यक्त चैतन्य पुनः अव्यक्त हो जाता है। सो जाता है। सत्व भी तब सत् न रहकर असत्कल्प हो जाता है। इसलिए जाग्रत् देवता को खाद्य (प्रेम-पूजा-ध्यान-जपादि) आवश्यक है। यन्त्र को देवता की कारणदेह कहते हैं। देवगण कारण जगत् के हैं। इसीलिए कारणदेह ही उनकी एकमात्र स्वाभाविक देह है। शुद्धस्तर के देवतागण एकाग्रभूमि में स्थित हैं। स्वयं एकाग्र होने पर ही उनका साक्षात्कार होता है। ईश्वर स्वयं एकाग्रभूमि में हैं। निरोध की ओर रहते हैं। देव-देवी सब ईश्वर में लगे रहते हैं। देवता की उपासना करते-करते यदि ज्ञानोदय हो जाये, तब आत्मदर्शन होता है। तब देवदर्शन नहीं होता, केवल आत्मदर्शन होता है। चित्त निरुद्ध होकर एकाग्रभूमि में रहने पर शुद्ध आत्मा ही अनुभूत होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इच्छा

उनकी ही इच्छा पूरी होती है। संसार में जो-जो घटित होता है, सब उनकी इच्छा की पूर्णता का फल है। उनकी इच्छा के अभाव में कुछ भी हो सकना असम्भव है। जब हमारी इच्छा उनकी इच्छा से अलग होती है, तब पूर्ण नहीं होती। उनकी इच्छा में हमारी इच्छा का लय ही आत्मसमर्पण है। यह उनकी लीला में प्रवेश है। अपनी अलग इच्छा लेकर लीला में प्रवेश नहीं हो सकता। इच्छा की पूर्णता को आनन्द कहते हैं। इस जगत्-लीला में उनके आनन्द का स्फुरण है। यह आनन्द स्रोत सदा प्रवाहित हो रहा है। हमारी इच्छा उनकी इच्छा से मिलेगी, जब उनकी ही इच्छा हमारी इच्छा हो जायेगी, हमारी कोई अलग इच्छा नहीं रहेगी, तभी हमें आनन्द मिलेगा। कारण यह है उस स्थिति में अलग से अपनी कोई इच्छा न रहने से, हममें अपनी अतृप्ति अथवा अभाव का कोई अवकाश ही नहीं रहता। अतः दुःख नहीं रह जाता। तभी जो वास्तव में योगी है वह सदा आनन्द में है।

किन्तु एक रहस्य है। जीव के लिए इच्छाहीन होना कठिन है। जो अवस्था इच्छाहीन प्रतीत होती है, वह भी वास्तव में इच्छाहीन नहीं है। वह भी लीलाचक्रान्तर्गत है। पूर्ण की इच्छा से ही लीला का आविर्भाव होता है। इसी से जीवोत्पत्ति होती है। अतः जीव बनकर इच्छाशून्य हो सकना असम्भव है। उनकी ही इच्छा नाना इच्छा के रूप में प्रकट होती है। यह सब इच्छा भी उनकी इच्छा है। जैसे प्रतिबिम्ब का बिम्ब। बीच में एक व्यवधान रह जाता है, इसीलिए प्रतिबिम्ब एवं बिम्ब में वैषम्य है। यह व्यवधान भी उनका ही बनाया है। इनकी इच्छा से विपरीत इच्छा रखना ही संसार या बन्धन है, दुःख है। उनकी इच्छा की अनुसारिणी इच्छा लीला का निमित्त है, आनन्द का हेतु है। फलस्वरूप जीव का इच्छा-त्याग करना सम्भव ही नहीं है। इच्छा का शोधन आवश्यक है। त्याग आवश्यक नहीं है। त्याग कहने से त्याग नहीं हो जाता। बीज तो रह जाता है। शुद्ध इच्छा भगवद्-इच्छा की अनुसारिणी होती है, विरुद्ध नहीं होती। परन्तु जब तक जीवत्व है, तब तक जीव सदैव भगवद्-इच्छा से युक्त नहीं रह सकता। कम से कम क्षणभर के लिए तो पृथक् हो ही जाता है। यही विरह है। तब दुःख आता है। अन्यथा आनन्द ही आनन्द है।

मैं जो चाहे इच्छा कर सकता हूँ। यह इच्छा करने की स्वतन्त्रता है। हमारी इच्छा उनकी इच्छा से प्रतिकूल भी उदित हो सकती है। तब उनकी इच्छा से विरोध तथा संघर्ष होता है। परिणाम है दुःख। इच्छा पूर्ण न होने से संस्कार उत्पन्न होता है। उनकी इच्छा अव्यक्त होती है। यदि मैं अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में विसर्जित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर सकूँ, तब मेरी इच्छा ही नहीं रहेगी। उनकी अव्यक्त इच्छा मेरी इच्छा का रूप लेकर तब व्यक्त होती है। अतः पूर्ण में इच्छा को न डालने से इच्छा पूर्ण नहीं होती। इच्छा का पूर्ण होना = कार्य का उदय। उनकी इच्छा को कौन जान सकता है? पूर्ण निराकार अव्यक्त हैं परन्तु भगवान् की इच्छा साकार है, व्यक्त है। उसे योगीगण जान लेते हैं।

यदि कोई अपनी इच्छा को पूर्ण में उलट सके, तभी वह पूर्ण होगी। तथापि यदि वह इच्छा भगवान् की इच्छा से विरोधी हो, तब भगवद्-इच्छा उसे पूर्ण में उलटने नहीं देती। प्रबल प्रतिबन्धक का कार्य करती है। परन्तु यदि अपनी इच्छा भगवद्-इच्छा के समान तुल्यबल अथवा बलशाली है, तब वह पूर्ण में उलटी जा सकती है। तथापि एक बात और है। भगवत्-इच्छा स्वभावतः निष्काम होती है। अतः पूर्ण से उसका मिलन निश्चित ही है। भगवान् के भीतर से पूर्ण की ही इच्छा अभिव्यक्त होती है। यदि प्रतिद्वन्दी इच्छा भी निष्काम है, तब विरोध ही नहीं रहेगा। सकाम स्थिति में वह चाहे कितनी प्रबल इच्छा क्यों न हो, पूर्ण से सही मिलन नहीं होता। अतः चरम अवस्था में पूर्ण की इच्छा से विरोधी होने के कारण वह नष्ट हो जाती है। जब इच्छा पूर्ण नहीं होती, तब घूर्णि वायु सृष्ट होती। अतः सिद्धान्त यह है कि कामना ही दुःख का कारण है। विरुद्ध इच्छा होती है अभिमान के कारण। निष्काम होने का अर्थ है द्रष्टा होना। यदि मैं मात्र द्रष्टा हूँ तब मुझमें उनकी ही इच्छा पूर्ण होगी, फलतः मुझे आनन्दास्वाद मिलेगा। क्योंकि जब मेरी-उनकी कोई अलग इच्छा नहीं है, तब उनकी इच्छा मेरी ही इच्छा है। जो द्रष्टा भाव में नहीं है, उसे यह आनन्द कैसे मिल सकेगा?

उन्हीं की इच्छा पूर्ण होती है और कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती। उनके भक्त की अलग इच्छा नहीं है। भक्त निष्काम हैं। अथवा उनकी (भगवान्) इच्छा ही भक्तों की इच्छा है। ये भगवद्-इच्छा में बाधक नहीं होते। जो भक्त नहीं हैं, वे विरोधी हो सकते हैं। परन्तु भगवद्-इच्छा को बाधा नहीं दे सकते। कई बार कहा जाता है कि भगवान् भक्त की इच्छा को पूर्ण कर देते हैं। परन्तु वहाँ भी भगवद्-इच्छा ही पूर्ण होती है। जो यथार्थतः भक्त हैं, उनमें वही इच्छा आयेगी जो भगवान् की इच्छा है। यदि उनकी अलग इच्छा है, तब वे भक्त हैं ही नहीं।

यहाँ एक विशेष बात है। किसी घटना में असंख्य इच्छाओं का खेल होता रहता है। एक घटना है 'क'। 'क' नामक घटना क्यों हो सकी? इसलिए कि वही भगवान् की इच्छा है। लोग उनकी इच्छा को समझ नहीं पाते, क्योंकि वह अव्यक्त होती है। मैं अगर भक्त होऊँ, तो कह सकता हूँ कि मेरी इच्छा से ही 'क' घटना हुई है। परन्तु वास्तव में ईश्वरेच्छा ही मूल है। एतद्विपरीत यदि मैं भक्त नहीं हूँ, तब मैं चाह सकता हूँ कि 'क' घटना न हो, तथापि 'क' घटना होगी। क्योंकि वही भगवान् की इच्छा है। लोग उनकी इच्छा को नहीं समझते। मेरी इच्छा उनकी इच्छा से अलग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने के कारण पूर्ण नहीं हो सकी। बाधा देकर उनकी इच्छा का कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। केवल काल विलम्ब कर सकता है। एक बात अवश्य है। मध्यवर्ती देवता, ऋषि आदि की इच्छा भगवद्-इच्छा से विरुद्ध होने पर भगवद्-इच्छा पूर्ण होने में कुछ विलम्ब अवश्य हो जाता है। मेरी प्रार्थना के अनुरूप उनकी इच्छा होती है अथवा भगवान् के अपने प्रयोजनानुसार मेरी इच्छा के अनुरूप उनकी इच्छा हो जाती है। इससे इच्छा में विलम्ब हो जाता है। (भगवद्-इच्छा में विलम्ब हो जाता है।) लेकिन यदि मूल में मुझमें कोई विशिष्ट इच्छा न हो, तब भगवद्-इच्छा अविलम्ब पूर्ण हो जाती है।

इससे यह ज्ञात होता है कि दुःख का बीज कहाँ है। यदि उनकी इच्छा के विरोध में मेरी इच्छा है, तब वे प्रबल हैं। उनके साथ संघर्ष होने पर मुझे दुःख होना निश्चित है। ऐसी स्थिति में भी उनकी इच्छा कुछ काल विलम्ब से पूरी होती है। परन्तु यह दुःख का कारण हो जाती है। अन्यथा सब घटनाओं के मूल में उनकी ही इच्छा है। मैं विरुद्ध इच्छा करता हूँ, अतः संघर्षजनित दुःख पाता हूँ। यदि उनकी इच्छा ही मेरी इच्छा है, तब वह इच्छा तत्काल पूर्ण होती है। फल है आनन्द है। अपनी इच्छा को उनकी इच्छा के अनुकूल रखने से अपनी इच्छा की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। तब उनकी ही इच्छा रहती है। वही इच्छा मुझमें मेरी इच्छारूपेण प्रकट होती है। वह इच्छा अबाधित होती है, वह पूर्ण होगी ही। फल है आनन्द। 'मैं' जब उनमें लुप्त हो जाता है, तब वे विशुद्ध 'मैं' के रूप में प्रकट होते हैं।

मेरे इच्छाशून्य होने से जैसे उनकी इच्छा ही मेरी इच्छा होकर दिखाई देती है, वैसे ही उनकी इच्छा भी शून्य होने से मेरी इच्छा ही उनकी इच्छा होकर दिखलाई देती है। अतएव प्राप्ति का प्रकार इस प्रकार से है:—

क. पहले इच्छाशून्य मैं यदि इच्छा लेकर पूर्ण में अवगाहन करूँ तो मेरी इच्छा पूर्ण के स्पर्श से उनकी इच्छा के रूप में, इच्छाशक्ति के रूप में प्रकाशित होगी। यह योगीगण का व्यापार है।

ख. भक्तों का व्यापार अलग है। मेरे इच्छाशून्य होकर इच्छामय पूर्ण में अवगाहन करने से उनकी इच्छा मुझमें मेरी इच्छा के रूप में प्रकट होती है। दोनों विभूति एक समान नहीं है। एक सकाम चित्त की है, दूसरी लीलाविभूति निष्काम चित्त की है।

इच्छा से इच्छाविहीन का मिलन, यह दोनों ही ओर है। मैं इच्छायुक्त हो जाऊँ, तब वे इच्छाहीन हैं। मैं इच्छाहीन हो जाऊँ, तब वे इच्छामय हैं। ज्ञानोदय के पूर्व अपनी इच्छा के अतिरिक्त और कोई इच्छा ज्ञात नहीं होती। उस समय जड़ शक्ति प्रधान रहती है। ज्ञानोदय के उपरान्त तो कर्म भी (कैवल्यदशा में) नहीं रहता। और ज्ञानोदय हो जाने पर (जब कैवल्य नहीं होता) यह समझ में आता है कि सब भगवान् की इच्छा से ही हो रहा है। तब अपनी कोई इच्छा नहीं रहती। मात्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रष्टाभाव रह जाता है। तब भी लीला-दर्शन होता है। यदि अपनी इच्छा रहे भी, तो वह दो प्रकार से रहती है :—

क. अपनी इच्छा उनकी इच्छा के अनुकूल है। चरम स्थिति में कृपालाभ से पूर्णत्व।

ख. उनकी इच्छा से प्रतिकूल इच्छा होने पर पतन अवश्य होगा। इसलिए कहा है कि 'ज्ञानिनामपि चेतांसि' योगी बलात् मोह में खींच लिया जाता है।

जड़ इच्छा की निवृत्ति दो प्रकार से होती है—

1. पूर्णता—इस निवृत्ति के अनन्तर इच्छा नहीं जागती।
2. बलपूर्वक निरोध—यह सामयिक है।

इसमें कुछ काल पश्चात् इच्छा पुनः जाग जाती है।

सामान्य ब्रह्मज्ञान आने पर इच्छा पूर्ण होगी, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। यदि ऐसा होता, तब सामान्य ब्रह्मज्ञान ही पूर्ण ज्ञान होता। सामान्य ज्ञान के उपरान्त विशेष ज्ञान हो जाने पर ऐसी इच्छा उद्बुद्ध ही नहीं होगी। सामान्य ज्ञान से पहले जो सामान्य विषयक इच्छा रहती है, वह सामान्य ज्ञान से पूर्ण होती है। चूँकि विशेष ज्ञान अधिगत नहीं हो सका है, अतएव इच्छा शेष रह जाती है। सामान्य के अधिगत होने से वह ज्ञान पुनः आच्छन्न नहीं होता। सभी समय रहता है। परन्तु तब भी अभाव-बोध शेष रह जाता है। लेकिन सामान्य प्राप्त रहने के कारण वह उसी विशेषाकार में प्रकट होकर अभाव को पूर्ण कर देता है। अभाव की निवृत्ति से ही तृप्ति अथवा आनन्द होता है। सामान्य ज्ञान से सामान्य प्रकाश निवृत्त होता है। फलतः मिलता है सामान्य आनन्द। यह व्यापक आनन्द है। यह एक बार उत्पन्न होकर फिर कभी नहीं जाता। परन्तु इसके उत्पन्न होने पर भी विशेष विषयक अभाव-बोध सालता रहता है। इसलिए उसके लिए इच्छा उदित होती है। केवल योग से अथवा इच्छाशक्ति के द्वारा पूर्णतम तृप्ति नहीं मिलती। उसके लिए पूर्ण ब्रह्मज्ञान आवश्यक है। सामान्य ब्रह्मज्ञान से विशेष (पूर्ण) ब्रह्मज्ञान का पथ है इच्छा का उपसंहार। यही त्याग है।

संसार के सभी कार्यों के मूल में इच्छा है। इच्छा और स्वभाव में भेद क्या हैं? इच्छा की पूर्णता ही स्वभाव अथवा आनन्द है। पूर्ण इच्छा अर्थात् स्वभाव। स्वभाव का विकार नहीं होता। इसलिए परमेश्वर की इच्छा अथवा पूर्ण की इच्छा निर्विकार है। आधार भेद से यही इच्छा नाना प्रकार से अपूर्ण होती है, सीमाबद्ध होती है, विकृत होती है। हम सामान्यतः जिसे इच्छा कहते हैं, उसमें उदय और अस्त है। वह जन्य और विकृत है। परमेश्वर की इच्छा नित्य प्रकाशमान है, निर्विकार है, अतः स्वभाव है। वह पूर्ण है। इसलिए लोग उसे इच्छा न कहकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द कहते हैं। वह सदा एकरस है। इसलिए उसे पूर्णता अथवा स्वभाव कहा जाता है। बिन्दु ही मूल आधार है। उसी को ग्रहण करने से इच्छा का स्फुरण होता है और आनन्द का विकास होता है।

दुःख-निवृत्ति तथा आनन्द-लाभ का उपाय क्या है? उपाय है उनसे मेरा मिलन! अभी यह नहीं है। अतएव दुःख है। वह इच्छामय हों या इच्छाविहीन, मैं इच्छायुक्त हो जाऊँ या इच्छाहीन, उससे क्या?

वे इच्छामय हैं, मैं भी इच्छायुक्त हूँ, फल है संसार तथा दुःख। वे हैं इच्छामय तथा मैं हूँ इच्छाहीन—फल है भक्ति। वे इच्छारहित, मैं इच्छामय, यह है योग। वे इच्छाहीन, मैं इच्छाहीन यह है ज्ञान तथा कैवल्य।

पहली अवस्था में दोनों की इच्छाओं के संघर्ष से दुःखोत्पत्ति होती है। दूसरी अवस्था में अपनी इच्छा नहीं है, अतः न तो दुःख है न आनन्द। किन्तु उनकी इच्छा है इसलिए लीला आनन्द का रस है। यह श्रेष्ठ है। तीसरी अवस्था में दुःख की स्मृति है, इसलिए आनन्द है। जो कर्म देवता हैं, वे इस आनन्द से युक्त हैं। चौथी अवस्था में न दुःख है न आनन्द। यह है ब्रह्मकोटि।

दूसरी अवस्था दो प्रकार की है। पहली है भक्तिप्रधान ज्ञान सहकारी—यहाँ द्रष्टा होकर भगवद्लीला का दर्शन होता है। दूसरी है भक्तिप्रधान, कर्मसहकारी—यहाँ अभिनेता होकर भगवद्लीला की जाती है।

इच्छा से ही सृष्टि होती है। क्रिया से इच्छा की पूर्णता तथा सृष्टि की पूर्णता होती है। जब व्यष्टि इच्छा लयीभूत हो जाती है, तब समष्टि इच्छा के अधीन होना पड़ता है। समष्टि इच्छा लयीभूत होने पर प्रलय है। महासमष्टि इच्छा का लय है महाप्रलय। तदनन्तर नित्यलीला में प्रवेश होता है। इच्छा का स्थितिकाल है संसार। यही है कल्पनारूप कल्पकाल!

अनेक इच्छाओं के खेल से यह जगत् है। सबके मूल में एक इच्छामय हैं। उन्हीं की नाना इच्छायें हो रही हैं। इन इच्छाओं का पूर्ण होना उनकी इच्छा है। उनकी इच्छा पूर्ण होने से यह पूर्ण होता है। कहीं भी।

कोई असामञ्जस्य नहीं है। होगा वही जो करेंगे। उनकी ही इच्छा पूरी होती है। जीव में इच्छा न हो, तब वह द्रष्टा होकर मात्र लीला-दर्शन करता है। जिसकी इच्छा उदित तो होती है, परन्तु वह उनकी इच्छा के अनुकूल है, तब जीव भक्त होकर लीला परिकर बन जाता है। प्रतिकूल इच्छा होने पर अहंकार आता है। फल है पतन।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकाश तत्त्व

जब हम नेत्र खोले रहते हैं, बाहर के प्रकाश से सब देख पाते हैं। इससे अन्धकारपूर्ण आकाश आलोकित होता है। यह भूताकाश है। यह भौतिक आलोक से आलोकित रहता है। जब प्रकाश नहीं रहता, तब कुछ भी परिलक्षित नहीं होता। इसे देखने के लिए इन्द्रिय चाहिये। इन्द्रियों के बिना प्रकाश होने पर भी कुछ परिलक्षित नहीं होता। इन्द्रियों के बिना प्रकाश होने पर भी कुछ दिखलाई नहीं देता। आँखों की जैसी पलकें हैं, वैसी ही सभी इन्द्रियों तथा रन्ध्रों की हैं। पलक को बन्द करने से बाहरी विषय भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। सभी द्वारों को यदि बन्द कर दिया जाये, तब बाहरी जगत् (भूताकाश) ज्ञानक्षेत्र में प्रकाशित नहीं हो सकता। उस स्थिति में चारों ओर अन्धकार प्रतीत होता है। यही है तमोमय आकाश।

एकाग्रता से इस अवस्था का भेद हो जाता है। उस समय देहाभिमान नहीं रहता। पंचेन्द्रियाँ मिलकर अन्तःकरण में लीन हो जाती हैं। आँखें बन्द करने पर हमें अन्धकार दिखता है। यही है अज्ञानान्धकार। केवल एक इन्द्रिय को रुद्ध करने से सम्यक् स्थिति नहीं होती। अन्य इन्द्रियाँ बाह्याकाश में खींच लेती हैं। जब एकाग्रता तथा पंचेन्द्रियादि के रोध से ज्योति का उदय होता है, तब यह आकाश (जो पहले आँखें बन्द करने पर अज्ञानान्धकार से आच्छन्न था) ज्योति के उदय से आलोकित हो उठता है। तब समझ में आता है कि इसी ज्योति से भीतर-बाहर सभी आलोकित है। बाहर की जो ज्योति है, वह इसी का आभास मात्र है। इसके बाद जब इस प्रकाश का स्रोत तथा द्रष्टा मिल जाते हैं, तब साधक द्रष्टारूप हो अपने प्रकाश को आप ही देखता है। यह चिदाकाश है, जो दिखलाई पड़ता है वह चिन्मय है।

भूताकाश के उपरान्त चित्ताकाश है। जो चिन्तायें हमारे मन में उठती हैं, उनमें से कुछ अति निम्नस्तर से आती हैं। कितनी बहुत ऊपर से आती हैं। कितने ऊपर से यह पता नहीं चलता। नीचे की चिन्तायें इसी चित्ताकाश में इधर-उधर हवा में चलती हैं। यदि द्रष्टा उन्हें स्वीकार कर लेता है, तब उनमें भोग की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। जो चिन्तायें अत्यन्त ऊपर से उतर कर आती हैं, वे प्रायः किसी के द्वारा प्रेरित होती हैं।

भूताकाश में हम जिसे निर्दिष्ट देशकाल में पाते हैं, उसे ही चित्ताकाश में जब-तब और जहाँ-तहाँ पाया जा सकता है। कोटि-कोटि चित्तमय आकार चित्ताकाश में तीव्र वेग से अन्तर्मारुत के कारण उड़ते-घूमते रहते हैं। उनमें से किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक को पकड़ने से उस जैसे दूसरे जहाँ भी हों उससे आकृष्ट हो जाते हैं। अब जिसको पकड़ा था, वह घनीभूत होने लगता है। यह है एकाग्र स्थिति। वैसी स्थिति में वह आकार स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है।

जहाँ जैसा वातावरण होता है, वहाँ वैसा ही जीव निवास करता है। चित्ताकाश में अनेक प्रकार की चिन्तामूर्ति का संचार होता है। क्यों? इसलिए कि वहाँ उनके अनुकूल वातावरण है। यदि चित्त में उच्चस्तरीय तेज संचालित कर दिया जाये, तब उस तेज के उपयोगी भाव चित्त में उदित होंगे। निम्न स्तर का भाव चित्ताकाश में उठ ही नहीं सकेगा। ऐसा भी किया जा सकता है, जिससे चित्त में कोई भाव ही नहीं आ सके।

इन्द्रियों की प्रभा चारों ओर बिखरी हुई है। उनमें तरंगें उठ रही हैं। वही जगत् है। यही प्रभा महाकाश अथवा भूताकाश है। यह 5 है (5 तत्त्व)। इन पाँचों की जो समष्टि है, वही वास्तविक भूताकाश है। उसे पाने से ही यह उपलब्ध होता है। चित्ताकाश की तरंग ही भाव है। चित्ताकाश में जब तक तरंग नहीं उठती, तब तक भूताकाश में भी तरंग नहीं उठ सकती। जब कारणबिन्दु अथवा अव्याकृत आकाश में तरंग नहीं उठती, तब चित्ताकाश में भी तरंग नहीं उठती। महाकारण के स्वातन्त्र्य से ही कारण कम्पित होता है। कारण में कम्पन का तात्पर्य है प्रयोजन अथवा अभाव-बोध। स्वभाव से अभाव का उन्मेष। इसका स्वरूप है प्रार्थना अथवा इच्छा। जैसे 'फूल चाहिये'। यह अत्यन्त अस्फुट है। इसके मूल में है अज्ञान। कारण में चाहने का भाव जागा है। यही बीज है। चित्ताकाश में यह भावरूप में जाग उठता है, जो कि चित्त की तरंग विशेष है। यदि यह भाव भूताकाश पर पड़ता है, तब स्थूल अथवा भौतिक पदार्थ का उद्भव होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाश-आलोक-ज्योति

हमारा जगत् अन्धकार में स्थित है। इसमें प्रकाश आने की व्यवस्था है। उसी प्रकाश से यह अन्धकार हटता है। इस अन्धकार के उस पार ज्योति का राज्य है। वहाँ ज्योति ही ज्योति है। यहाँ का अन्धकार सामयिक है, परन्तु इस अन्धकार का आश्रय किये बिना ज्योति का वह जगत् भी परिलक्षित नहीं होता। ज्योति के इस व्यापक राज्य के अनेक नाम हैं। उस विराट् राज्य में अनन्त प्रदेश हैं। इन्हीं को धाम कहते हैं। ये उपास्य के लोक हैं, परन्तु सभी हैं 'तमसः परस्तात्'। एक व्यापक प्रकाश में नाना प्रकार के प्रकाश तैरते रहते हैं। ये नाना प्रकार के प्रकाश विभिन्न धाम हैं। सबके मूल में वही व्यापक प्रकाश है। धाम, नाम, रूप, लीला, अप्राकृतगुण, सभी उन्हीं नाना प्रकाशों के अन्तर्गत हैं। प्रकाश में प्रवेश करने से प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकाश को उससे बाहर से देखा जाता है। प्रकाश को देखते-देखते प्रकारान्तर से उस प्रकाश में स्वयं सर्वतोभावेन प्रकाशमय हो जाने पर रूपदर्शन होता है। प्रकाश-दर्शन नहीं होता।

सभी आलोक में (प्रकाश में) सभी वस्तु नहीं देखी जा सकती। जो दृश्य देखा जाता है, आलोक भी उसका समजातीय है। अशुद्ध मायिक आलोक (चन्द्र, सूर्य, अग्नि का आलोक) में अशुद्ध मायिक जगत् दृश्यमान होता है। शुद्धमायिक आलोक (चिज्ज्योति) में शुद्ध जगत् दृष्टिगोचर होता है। यह मन्त्र के आलोक में भी देखा जा सकता है। ब्रह्मालोक में ब्रह्म ही देखा जाता है। वहाँ ब्रह्म का आलोक क्रीड़ा कर रहा है। वहाँ सब कुछ ब्रह्म हैं। अहं ब्रह्म-इदं ब्रह्म। प्रवाह है, नानात्व है, फिर भी है एक ही ब्रह्म। यही है नित्यलीला।

शुद्धसत्व का आलोक (ज्योति) तथा मलिन सत्व की ज्योति अलग है। शुद्धसत्व की ज्योति घनीभूत होती है। उसमें जगत् की कोई वस्तु नहीं देखी जा सकती। वह आलोक यदि सामने फैले तो उससे कोई वस्तु भी प्रकाशित नहीं होगी। साथ ही उस ज्योति को यहाँ कोई नहीं देख पायेगा। उस ज्योति में यह जगत् लीन नहीं होता, अतः यह जगत् उससे प्रकाशित नहीं हो सकता। मलिन सत्व की ज्योति से घर की वस्तु प्रकाशित होती है। उस ज्योति में मृत्युलोक की सत्ता है। उसी में जगत् लीन-सा रहता है। इसलिए उससे यह जगत् प्रकाशित हो जाता है।

शुद्ध सत्व की ज्योति ही दिव्य ज्योति अथवा दिव्य चक्षु है। वह इस मृत्युलोक को जानने हेतु नहीं है। जब यह ज्योति खुलकर छिटकती है, तब यह विदित होता है कि उसमें सभी धाम मग्न हैं। क्रमशः वे सभी धाम स्फुरित होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगते हैं। यह ज्योति अनन्त प्रकार की है, किन्तु सभी ज्योति की पृष्ठभूमि में शुद्ध प्रकाश है। देवभेद के कारण यह दिव्य ज्योति भिन्न-भिन्न है। जिस देवता की ज्योति प्रकाशित होती है, वह केवल उसी लोक में प्रवृष्ट होती है। परन्तु जब व्यापक सत्त्व की ज्योति प्रकट होती है, तब एक देवलोक से अन्य देवलोक में यातायात चलता है। उसकी पृष्ठभूमि के प्रकाश के बल से सभी देवलोकों के बाहर भी जाया जा सकता है। तब उस प्रकाश से मृत्युलोक के सभी प्रकार के दर्शनादि हो सकते हैं।

'प्रकाश का राज्य सत्व है। अन्धकार का राज्य तमः है।' हम किसी भी वस्तु को आलोक में देखते हैं। वस्तु वस्तुतः आलोक का ही एक न एक आकार है। आकार को उसमें पुनः डुबा देने से केवल आलोक ही परिलक्षित होगा। आकार को डुबाने की जो बात कही गयी उसमें एक रहस्य है। मन की विक्षिप्तावस्था में आकार को डुबाया नहीं जा सकता। एक आकार को अभिभूत करते ही अन्य एक आकार उसका स्थान ले लेता है। यही स्वप्न भी है। सर्वप्रथम सभी आकारों का एक आकार में लीन होना आवश्यक है। तब एक घनीभूत आकार की प्राप्ति होती है, जिसमें यह एक आकार तैरता-सा मिलेगा। वास्तव में यही आलोक मेरे वर्तमान का आलोक है। इस आकार को भी डुबा देने पर विशुद्ध ज्योति मिलती है। इस ज्योति में इच्छानुरूप अपना अतीत एवं भविष्य देखा जा सकता है, परन्तु अन्य का नहीं देखा जा सकता। क्योंकि इस आकार में मेरा ही जीवन तैर रहा है। इसके बाद ही है अन्धकार। जब यह अन्धकार साधना में दिखता है, तब यह दो प्रकार का होता है। एक अन्धकार के बीच खद्योत (जुगनूँ) की भाँति असंख्य चमकती ज्योति। द्वितीय है केवल अन्धकार तथा अन्धकार के अनन्तर पुनः एक आलोक। उसी आलोक में समस्त जगत् भासमान है।

आलोक भी दो प्रकार से उपलब्ध होता है। प्रथम है आलोक में जगत् को देखना, दर्पण में दिखते नगर के समान विश्वदर्शन। द्वितीय है केवल आलोक को देखना।

अब कायव्यूह का प्रकरण आवश्यक है। यह भी प्रकाश की क्रीड़ा है। किसी कक्ष में यदि चारों ओर छेद हो, तब चारो ओर से प्रकाश भीतर आता है। फलतः वहाँ मेरे शरीर की अनेक छाया पड़ रही है। प्रकाश की धारा-संख्या के भेद से छाया का भी भेद होता है। यदि असंख्य छिद्र हों, तब चतुर्दिक् से असंख्य प्रकाश धारा आ सकती है। इससे असंख्य छाया बन सकती है। यदि इन छायासमूह में से जिस-किसी को भी स्थूल किया जा सके, तब असंख्य मूर्तियाँ बनती चली जायेंगी। प्रकाश यहाँ सूर्य से आता है। साक्षात् प्रकाश (स्वयंप्रकाश) नहीं आता। परमात्मा की भी अनन्त रश्मियाँ हैं। उनमें से जितनी संचार की जायेगी, उतनी देह-छाया तैयार होगी। अतएव जितनी रश्मि जीव-केन्द्र से निकलेगी, उतनी देह परिलक्षित होगी, जब इन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाश-रश्मियों का प्रत्याहरण (खींच लिया जायेगा) कर लिया जायेगा, तब ये देह नहीं रहेगा। साकार-सिद्धि के बिना कायव्यूह नहीं होता। प्रत्येक प्रकाश-दर्शन साकार तब होगा, जब रश्मिकेन्द्र ज्योति भी साकार होगी।

(साधना में) सूर्यमण्डल जब दिखाई देता है, तब हम उस मण्डल के बाहर होते हैं। भीतर रहने से घर-द्वार या जीव जो कुछ भी होगा, सब स्वप्रकाश परिलक्षित होगा। मण्डल में जितने भी स्तर हैं, सब स्वप्रकाश। बाहर से उसमें रोशनी नहीं आती। अभी हम पृथ्वी पर हैं। ऐसी अनेक पृथ्वी है। परन्तु कोई भी पृथ्वी स्वप्रकाश नहीं है। सभी को बाह्य प्रकाश की आवश्यकता होती है, जैसे इस पृथ्वी पर सूर्य प्रकाश की, परन्तु जहाँ किसी रोशनी की, प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अपने ही प्रकाश से जहाँ सब कुछ प्रकाशित है, वह है चैतन्यमय स्तर। जहाँ केन्द्र तथा व्यासार्द्ध परस्पर युक्त है, उनमें विच्छेद नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है। जहाँ यह विच्छेद है, वहाँ सब वस्तु बाहरी प्रकाश से प्रकाशित होती है। इसे ही जड़ जगत् कहते हैं। जड़ जगत् के प्रकाश का उदय अस्त है। चैतन्यमय स्तर में उदयास्त है ही नहीं। वहाँ मन, इन्द्रिय, बाह्य प्रकाशादि की आवश्यकता नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्ता

भविष्य में सृष्टि, वर्त्तमान में स्थिति, अतीत में संहार। वर्त्तमान का आश्रय लेकर ही सृष्टि तथा संहार का व्यापार चल रहा है। वर्तमान है ही। उसमें इच्छा के अनुदय से स्थिति होती है। इच्छा के उदय से सृष्टि तथा संहार होता है। इच्छा के प्रभाव से सत्ता का पृथक्तः भाव होने पर सृष्टि होती है। पुनः उसी के प्रभाव से लय होता है। यह सृष्टि तथा लय सीमाबद्ध द्रष्टा के हैं। क्योंकि उसके दर्शनगोचर होने का नाम ही सृष्टि है। उसका अदृश्य होना ही लय है। यदि द्रष्टा का दर्शन बाधारहित है, अर्थात् वह यदि सीमाबद्ध दर्शन नहीं है, तब उसके लिए सृष्टि तथा लय अर्थहीन है। यह नित्यस्थिति का भाव है। प्रत्येक वस्तु का एक दृश्यत्व धर्म है। वह रूप है। जब उसका श्रव्यंत्व होता है, तब शब्द है। अब जो इस दृश्यता या रूप को क्षीण कर देते हैं, तब वह उनकी दृष्टि की सीमारेखा से परे होता है। वह वस्तु अदृश्य हो जाती है। अन्य इन्द्रिय व्यापारों में भी यही नियम है। परन्तु यदि द्रष्टा अपनी दृष्टि को साथ-साथ घटा लेता है, तब अदर्शन नहीं होगा। जहाँ द्रष्टा अपरिसीम है, वहाँ तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। उसकी सत्ता तथा बोध सर्वत्र है। उसे अदर्शन कैसा होगा।

यहाँ स्तर की बात कही गयी है। प्रत्येक स्तर का जो स्वामी है, उसने उस स्तर की सत्ता के साथ अभिन्नत्व प्राप्त करके उसे वशीभूत किया है। अतः उस स्तर का आकाश उसका देह है। जब उसमें इच्छा उदित है, तब उसका देह क्षुब्ध होता है। इस क्षोभ से उस आकाश में स्थित अनन्त आकारों में से इच्छा का विषयीभूत आकार विश्लिष्ट, अलग हो जाता है। अब इच्छाकारी की दृष्टि अधोवर्त्तिनी होते ही वह स्थूल होकर आविर्भूत हो जाता है। सत्ता का आत्मप्रकाश ही ज्ञान है।

ज्ञान जिस कारण से अनुकूल-प्रतिकूल होता है, वह कारण सत्ता में है। सत्ता में ज्ञान अनुस्यूत है। उसके ही साथ-साथ अनुकूलता-प्रतिकूलता अनुस्यूत है। अभिव्यक्ति होने पर उपलब्धि भी होती है। यह उपलब्धि ही भोग है। अव्यक्तावस्था में भोग हो ही नहीं सकता। सुख-दुःख तब भी रहता है। किन्तु इनका बोध न होने के कारण वह भोग नहीं है। जो देखता है, वह है द्रष्टा। जो दिखता है, वह है दृश्य। द्रष्टा = चित्; दृश्य = सत्। दृश्य का जो सत्ता सद्भाव है, वह द्रष्टा का दृष्टिजात् है। द्रष्टा से जो आभा है, वही सत्ता देती है। 'तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।' द्रष्टा से जब आभा नहीं जाती, तब द्रष्टा-द्रष्टा नहीं है। दृश्य भी सत् नहीं है। यही अवस्था असत् है। जो विद्यमान ज्ञायमान है, वह विद्यमान नहीं है, सत्तावान् नहीं है। अब कोई इसे अव्यक्त कहते हैं, कोई असत् कहते हैं, कोई सत्मात्र कहते हैं। उस सत्ता में द्रष्टा की जितनी ही दृष्टि पड़ती है, वह उतनी ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आभामय होती जाती है। क्रमशः चिन्मय होने लगती है। तदनन्तर दोनों के मिलन में द्रष्टा-दृश्य नहीं रहता। यही आनन्द है स्वप्रकाश बोध।

सत् के सहाय्य के अभाव में चित् असत् है। चित् सम्बन्ध के अभाव में सत् भी अचित् जड़ है। चित् असत् का अर्थ है कि चित् को स्वयं का, अपने आपका अनुभव ही नहीं रह जाता। वह अब शववत् है। चित् का सम्बन्ध पाकर ही सत् भी चेतन होता है। दोनों की शुद्धता में आत्मदर्शन। तदनन्तर मिलन आनन्द। दोनों का मिलन कैसे होगा? इच्छा से! इच्छा पूर्ण होते ही मिलन की समाप्ति! यही अद्वैत है, आनन्द है।

द्रष्टा से दृष्टि बहिर्मुखीन क्यों हो जाती है? मूल में है इच्छा। तदनन्तर भासमान सत्ता को देखकर समष्टि-विशेष इच्छा अथवा व्यष्टिविशेष इच्छा जाग सकती है। स्थूल में एक साथ विशिष्ट सर्वभान होता है। साथ ही किसी को स्थूल में विशिष्ट पृथक् भान होता है। भासमान सत्ता को देखकर इच्छा का सामान्य भान तो रहता ही है। इच्छा का भान न रहने पर द्रष्टा दृश्य को नहीं देख पाता। सामान्य के पथ पर जाने से धीरे-धीरे सत् चित् हो जाता है। असत् ही अविद्या है।

अमृतबिन्दु है चित् तथा शुद्ध सत्त्व, जिसे प्रकाश तथा विमर्श भी कहते हैं। फल है अहम्। चित् निराकार है। शुद्धसत्व वृत्ताकार है। यह चिन्मय वृत्त होने के कारण उज्ज्वल, चिरस्थायी, नित्य शुद्ध है। दोनों पृथक् नहीं होते। यदि पृथक् मानें, तब चित् का पता ही नहीं चलता। सत्व के योग से चित् ही चैतन्य है। सत्व का अलग से पता ही नहीं चलता। चित् के योग में ही सत्व का प्रक़ाश है। दोनों मिलकर एक हैं। शिव-शक्ति युगल जैसे।

यहाँ शुद्धसत्व का उल्लेख किया गया है। मनुष्य मात्र ही शुद्धसत्व और चित्शक्ति का मिलित कणमात्र है। लेकिन सुप्त कण है। इसे जगाने के लिए जाग्रत् दिव्यशक्ति आवश्यक है। यह कण ही दिव्य आदि चक्षु और भाव का बीज है। इसके जगने से जड़ प्रकृति अभिभूत होगी और दिव्य प्रकृति का आपूरण होगा। इस सुप्त दिव्य शक्तिकण को जगाने के लिए पुरुषकार आवश्यक है। दिव्य शक्ति के जगने के लिए जो पुरुषकार चाहिये, वह स्वयमेव आ जाता है। यह अकृत्रिम पुरुषकार है। जैसे आग जलाने से हवा आप ही बहती है, वैसे यह स्वयं आता है। अर्थात् प्रकृति के जागरण होने पर उसकी क्रिया हेतु पुरुषकार अपने आप ही फूट पड़ता है। शुद्धसत्व को ही दिव्य प्रकृति कहते हैं, परन्तु सबका आकारगत, मात्रागत सन्निवेशात्मक तारतम्य है। शुद्धसत्व एक होते भी अनन्त है, और अनन्त होकर भी अखण्ड-निरवयव है। वास्तव में चित्शक्ति निरवयव है। मिश्रसत्व सावयव है। शुद्ध सत्वगुण परिणामी है। इसलिए सावयव है और चित्शक्ति के साथ अभिन्नरूपेण भासमान है तथा निरवयव है।

•

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विजय

इन्द्रिय जय का क्या तात्पर्य है? जब इन्द्रियाँ मेरे अधीन होती हैं वे मेरा अस्त्र हैं। जब आँखें ठीक रहते भी मैं दृश्य नहीं देख रहा हूँ, तब देखकर भी देखना नहीं होगा। तब चक्षुरेन्द्रिय जय हो गयी। आँखें खुली हैं, अथच ज्योति भी है, विषय भी है, तथापि दिदृक्षा, देखने की इच्छा न होने से देखना नहीं हो रहा है। अब आँखें मेरे वश में हैं। इच्छा के अधीन करना ही वश में करना है। जब मैं देखना न चाहकर भी देखने के लिए विवश हूँ, तब आँखें ही प्रबल हैं। जिसे हम जीत लेते हैं, उसी पर हमारी इच्छा कार्य करती है।

जय करना अर्थात् अतिक्रम करना। जिसे जय करना है, उसके साथ एक होकर उससे परे जाना होगा। अत्यन्त वेग भी आवश्यक है। जैसे 'क' को जीतना है। पहले उसे देखना होगा। सम्पूर्ण 'क' को देखते उसमें लीन हो जाना होगा। मग्न हो जाना होगा। यहाँ तक तो सहज है। अब असली कार्य आता है। अब 'क' में से पुनः उठना होगा। 'क' का अतिक्रमण करना हो गया। यह जय करना हो गया। मैंने द्रष्टा होकर 'क' को दृश्य बना लिया। यही चैतन्यावस्था है।

ऋणशोधन

सब ऋण तो चुकाना होगा। मातृऋण भी चुकेगा? सभी ऋण चुक गये, तब नित्यधाम में वास। मातृऋण चुका देने से निर्वाण। हमारा सब कुछ आद्याशक्ति माँ से है। उनका ऋणशोधन हो गया, तब अपना कुछ नहीं रहा। शुद्ध 'मैं' भी नहीं। क्योंकि वह भी आद्याशक्ति से मिला है।

मातृ ऋणशोधन से मैं माँ में लौट गया। उनमें घुलमिल गया। माँ तो चिर-निर्वाण में हैं। मैंने भी निर्वाण पाया। लेकिन माँ की गोद में लेटकर। माँ को पकड़कर।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान एवं कर्म

ज्ञान के बिना भक्ति नहीं होती। कर्म के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान से सभी धारायें एकमुखी, ऊर्ध्वमुखी होती हैं। ऊर्ध्वमुखी प्रवाह कुछ को स्पर्श करके शीतल होता है। यहीं से भक्ति का प्रारम्भ है। भक्ति शीतल है। कर्म का एक आदि तथा एक अन्त होता है। ऐसा आदि-अन्त ज्ञान का भी होता है, भक्ति का भी होता है। चतुर्दिक् बिखरे प्रवाह विक्षिप्त ज्ञानात्मक हैं। इनका एकमुख होना, ऊर्ध्वमुख होना कर्म है। कर्म का आरम्भ ज्ञान के बिना नहीं होता। कर्म पूर्ण होने पर ही ज्ञान की पूर्णता होती है।

विपुल प्रान्तर भेद करके गये बिना वह आनन्द-धाम नहीं मिलता। (यही ज्ञानात्मक कर्म हैं)। यह प्रान्तर विषयराज्य तथा भगवद्धाम के मध्य है। विषयराज्य से वैराग्य होने पर जब संसार का कुछ अच्छा नहीं लगता इन्द्रियगोचर तथा बुद्धिगोचर पदार्थ रसहीन लगते हैं तथापि सत्यधाम का मार्ग नहीं मिला, तब जानना होगा कि हम प्रान्तर में हैं। यही आराधना का उपयुक्त स्थल है, जहाँ कर्म एवं भक्ति का समुच्चय होता है। अतः ज्ञान चाहिये। कर्म के अभाव में ज्ञान नहीं होता। कृपा के बिना भी ज्ञान नहीं होता। कर्म नहीं, तब आधार कैसे होगा? आधार के अभाव में ग्रहण योग्यता कैसे होगी? भगवत्-कृपा से कृपा तथा पुरुषकार (कर्म) का उद्बोध होता है।

कर्म द्वैतभाव से ही होता है। इस अवस्था में द्रष्टा एवं दृश्य पृथक् रहते हैं। लिप्तता अवश्य होती है। अतएव द्रष्टा विशुद्ध नहीं होता, दृश्य भी विशुद्ध नहीं होता। दृश्य को लक्ष्य करते-करते (कर्म करते-करते) द्रष्टा एवं दृश्य का अवधान घटने से यथार्थ दृश्य की प्राप्ति होती है। यह एक प्रकार की समाधि भी है। बाद में इस अवस्था का भेदन होने पर शुद्धात्मस्वरूप में अवस्थान होता है। तब वही दृश्य आत्मा की शक्ति के रूप में प्रकट हो जाता है। स्वरूप में ही लय तथा स्वरूप से ही उदय। यह है दृश्यजय। अब पूर्ण आत्मा से सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त है, यह जानना चाहिये। समस्त दृश्यों की जय ही दिग्विजय है। किसी एक दृश्य को जीतने वाला राजा, समस्त दृश्यों को जीतने वाला सम्राट्।

कर्मक्षेत्र में नित्यकर्म का अपूर्व महत्त्व है। नित्यकर्म किये बिना अन्य कर्म नहीं करना चाहिये। दृश्य का परिष्कार करने के लिए ही, नित्यकर्माधिकार के लिए ही उपनयन तथा दीक्षा है। इस कर्मफल से एक आलोक आकर हृदय को आलोकित करता है। प्रतिदिन कुछ न कुछ आलोक तैयार करना चाहिये। फलतः प्रतिदिन कुछ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न कुछ मात्रा में हृदय शुद्ध होने लगता है। तथापि प्रतिदिन जो अनेक प्रकार का पाप चिन्तन होता है, पापाचरण होता है, उससे पुनः आवरण हो जाता है। नित्य कर्म से यह आवरण नित्य हटता रहता है। यह कर्म यदि तीव्र भाव से किया जाये, तब आगन्तुक मल हटकर चित्त और भी उच्चस्तरीय शुद्धि प्राप्त करता है।

प्रकृति का आवरण हटते ही कर्म का आरम्भ होता है। वही स्वाभाविक-स्वभावज कर्म है। इसे सिखलाना नहीं पड़ता। आत्मा का आवरण हटने से ज्ञान जाग्रत् होता है। वही प्रकृत ज्ञान है। भगवान् का आवरण हटने से भक्ति जागती है। यही प्रकृतभक्ति है। स्वाभाविक कर्म होते-होते आत्मावरण उच्छिन्न हो जाता है। ज्ञान का उदय होकर उसकी साधना से भगवान् का आवरण हट जाता है। भक्ति का उदय होने पर उसकी साधना से पूर्णब्रह्म का आवरण कट जाता है। प्रथम आवरण कटने से मुक्ति मिलती है। तथापि यह अपरामुक्ति है जो त्रिस्तरीय है। यथा— सिद्धस्तर, ज्ञानीस्तर, भक्तस्तर। इन अवस्थात्रय में भी जीव अपूर्ण है। पूर्णब्रह्म का आवरण हटने पर परामुक्ति होती है। यह है पूर्णब्रह्म भावापन्ना। ज्ञान से अलग स्थिति नहीं होती। ज्ञान में स्थिति ही आसनसिद्धि है। कर्म से जो आसनसिद्धि होती है, वह स्थायी नहीं है। परन्तु ज्ञान में पतन नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीक्षातत्त्व

जिसमें जो वस्तु व्यक्तरूपेण नहीं है, वह उसे पाने का अधिकारी भी नहीं है। दाता अथवा गुरु उसे वह नहीं देते। अव्यक्त रूप से सब कुछ सब कहीं है। अव्यक्त को व्यक्त करने का उपाय है कर्म। कर्म से समय-समय पर कोई-कोई वस्तु व्यक्त हो जाती है। परन्तु इसमें भी तारतम्य है। जो ज्यादा प्रबल है, वह ऊपर रहती है। बाकी जो उतनी प्रबल नहीं है, उससे अभिभूत रहती है। तथापि अभिभूत का अर्थ अव्यक्त नहीं है। जो वस्तु एक बार व्यक्त हो जाती है, वह पुनः अव्यक्त नहीं हो सकती, तथापि अभिभूत हो सकती है। अव्यक्त को विशुद्ध चैतन्य ही देख सकते हैं। अर्थात् परमेश्वर अथवा पूर्ण ही उसे देख सकते हैं। पूर्ण ही सबको सब कुछ दे सकते हैं। उनके लिए यह देना आदि लीलामात्र है। वे दूसरे व्यक्त से कार्य करा सकते हैं। यह सत्य है कि बीज को बनाने अथवा बीजरूप में अव्यक्त की अभिव्यक्ति का कार्य पूर्ण ही कर सकते हैं। अथवा यह पुरुषकार से होता है। तथापि पुरुषकार भी कृपा ही है। पूर्ण के अतिरिक्त कौन है जो कृपा कर सके? वास्तव में दूसरे की कृपा तो कृपा है ही नहीं। पूर्ण की कृपा ही कृपा है।

इसी कारण बाह्यगुरु को साधक के आन्तरिक विकास हेतु मुँह ताकना पड़ता है। वास्तविक गुरु तो आत्मा है। उसे किसी की भी अपेक्षा नहीं है। यहाँ बीजभाव शब्द का तात्पर्यार्थ क्या है? फल की आकांक्षा। फल हो जाना ही बीज की सार्थकता है। बीज जब तक फल नहीं हो जाता, तब तक वह निष्फल है। बीज-निर्माण की बात उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि बीज नित्य है। अव्यक्त में भी बीज है, तथापि उसमें बीजत्व नहीं है। वास्तविक कृत्य है बीज का आविष्कार तथा उद्धार। बीज अर्थात् ज्ञानबीज। इस बीज का उद्धार वे ही कर सकते हैं, जो अव्यक्त के द्रष्टा अर्थात् पूर्ण हैं। भगवान् के अतिरिक्त और कोई यह कार्य कर नहीं सकता। इसी को कहा गया है प्रलय-सलिल (कारण-वारिराशि) से वेदोद्धार। तभी भगवान् वेद के उद्धारकर्त्ता हैं। यही है भगवान् का विश्वगुरुरूप। प्रलयरूपी जड़ता अथवा मोह से चैतन्य को अलग छाँटे बिना पूर्ण की ओर गति कैसे होगी? मोह से विविक्त चैतन्य शक्ति ही चेतनाशब्द अथवा मन्त्र है।

बाह्यगुरु का पहला कार्य क्या है? यदि शिष्य में सत्व का बीज है, वह उसे पकड़कर बढ़ा देते हैं। अथवा उनके द्वारा बताये उपाय का सहारा लेकर शिष्य उसे बढ़ा सकता है। इसके बढ़ने से देह स्थिर होती है। प्रकृत आसनसिद्धि हो जाती है। मेरे विचार से यम-नियमादि केवल सत्व की पुष्टि के उपाय हैं। देह के स्थिर होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से प्राण स्थिर हो जाता है। अब बाहर से उसकी सहायता की जा सकती है। यही प्राणायाम बताने का उपयुक्त समय है।

यह बात देखने में आती है। पहली दीक्षा का उद्देश्य ही है अव्यक्त से बीज का निर्माण। शिष्य के आधार को, बीजरूप अव्यक्त को निखार देना। क्षेत्र में लाखों-लाख बीज हैं। परन्तु ज्ञानबीज प्रादुर्भूत होकर उन सभी अज्ञान बीजों को अभिभूत कर लेगा। तदनन्तर शिष्य अपने कर्म से उसे और निखार लेता है। बाह्य गुरु भी सहायक होते हैं। दीक्षाकाल में गुरु शिष्य का ज्ञानचक्षु खोल देते हैं। उस चक्षु के सामने इष्ट (लक्ष्य) प्रकट होता है। इस चक्षु के समक्ष देवता सदैव प्रकट रहता है। लेकिन चक्षु के परदे को क्रिया से हटाना पड़ता है। यह परदा स्थूलदेह से संसृष्ट है। अतः मरणकाल में स्थूलदेह से अलग होते ही परदा कट जाता है। यदि क्रिया द्वारा जीवितावस्था में वह स्थूलदेह सम्बन्ध छिन्न किया जा सके, तब वह कार्य जीवित दशा में ही सम्पन्न हो जायेगा।

दीक्षा या उपनयन को द्वितीय जन्म कहते हैं। क्या जन्मता है? देह। अवश्य विशुद्ध देह (विशुद्धज्ञानदेहाय)। यही है सूक्ष्मदेह अथवा ज्ञानदेह। इस विशुद्धदेह का आदि जाना जाता है, परन्तु अन्त ज्ञात नहीं हो सकता। अतः यह विशुद्धदेह अन्तहीन अथवा अमर है।

दीक्षा से क्या होता है? जिस मूल कारण से आवागमन में आना पड़ता है (अज्ञान, मल आदि) वह नष्ट हो जाता है। पूर्ण का निग्रह ही उस मल या अज्ञान का कारण है। अनुग्रह ही इसे नाश कर देता है। दीक्षा उसी अनुग्रह का फल है। यह नाश दीक्षाकाल में भी हो सकता है, शीघ्र—क्रमशः भी हो सकता है। इसीलिए क्रमदीक्षा भी दी जाती है। पहली दीक्षा में मलनिवृत्ति होती है। अतः दीक्षा के उपरान्त पुनरागमन नहीं होता। भले ही एक-दो बार जन्म लेना पड़े। क्योंकि यहाँ की दीक्षा का आगे का क्रम पूर्ण करना होगा। दीक्षा अनेक प्रकार की है। चाक्षुषी दीक्षा में चक्षु की राह से कला बाहर आकर शिष्य में प्रवृष्ट होती है। शाब्दी दीक्षा में शब्द के साथ मुख की राह से कला बाहर आकर शिष्य में प्रवृष्ट होती है। नाना दीक्षायें हैं। सर्वत्र ही इससे कला बाहर आती और शिष्य में प्रवेश करती है। चाक्षुषी दीक्षा सर्वोपरि है, क्योंकि उसमें चक्षु ही दिव्यपथ है। मस्तक के उपरान्त चक्षु ही श्रेष्ठ पथ है। मुख तथा कान का स्थान उसके पश्चात् है। ज्ञान के क्षोभकाल में ज्ञानी के मुख की बात में ज्ञान भरा रहता है। ज्योतिर्मय शब्द रहता है। उसे ग्रहण करने से ज्ञान मिलता है। रामानन्द से कबीरदास ने केवल यही शब्द पाया था।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पूर्ण ही गुरुभाव के माध्यम से कृपा करते हैं। पूर्ण द्वारा प्रबोधित गुरु ही (जो पूर्ण से ही वियुक्त हैं) शिष्य की योग्यता का आकलन करके अर्थात् उसका कुशलमूल जानकार और ज्ञानबीज देकर ज्ञानदान करते हैं। बिना आकलन किये नहीं दे सकते। वे सबको ज्ञानबीज नहीं दे सकते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकमात्र पूर्ण ही सबको ज्ञानदान दे सकते हैं, अर्थात् पूर्ण ही सबमें स्थित ज्ञानबीज का आकलन कर सकने में समर्थ हैं। दीक्षा एक प्रकार की Engraffing है। मान लो कि रामरूप। यह चिन्तन से मन में उदित होकर फिर चला जाता है। दीक्षाकाल में जब गुरु चित्त में रामबीज वपन करते हैं, तब उसे चित्त के साथ योजित कर देते हैं। तदनन्तर वह रामबीज चित्त से अलग नहीं होता। चित्त जीवन्त है, अतएव वह बीज बढ़ता जाता है। अन्ततः जीवित रहता है। पहले एक ज्योति विकसित होती है। दीक्षित शिष्य के सूक्ष्म शरीर में यह ज्योति लक्ष्यीभूत हो जाती है। नाना चिन्तायें आती-जाती रहें, परन्तु यह ज्योति नहीं जाती। कालान्तर में एकरूप फूटता है। प्रथमतः अस्पष्ट आभासिक, तदनन्तर स्पष्ट। अर्थात् स्थूल का प्रतिबिम्बरूप क्रमशः रामरूपेण होता जाता है। यही है उपादान परिवर्तन। एक समय ऐसा भी आता है कि जब चित्त (सूक्ष्म शरीर) स्थूल की प्रतिकृति न होकर रामाकार हो जायेगा। अब द्रष्टा चित्त को रामरूपेण अनुभव करेगा।

इस दीक्षा में और भी रहस्य है। मान लो कि यदु गुरु ने गोपाल शिष्य को रामबीज की दीक्षा दी। फलतः गोपाल का चित्त (सूक्ष्म शरीर) रामाकार-राममय होने लगा। परिणाम यह होगा कि वह चित्त युगपत् रूप से रामभाव प्राप्त करेगा। यदुगुरु तो स्वयं राममन्त्र में सिद्ध है। तभी वह राममन्त्र से दीक्षा दे सकता है। अतः उसमें राम ज्योति है। परन्तु स्वयं केवल ज्योतिमात्र रहकर दीक्षादान (ज्योतिदर्शन) नहीं किया जा सकता। यदु ने रामरूप प्राप्त चित्त रहने पर दीक्षादान दिया है। यदि यदुगुरु रामसायुज्य की स्थिति प्राप्त कर ले, तब उसकी दीक्षा से शिष्य रामशक्ति पा सकेगा।

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं ध्यानमूलं गुरोः पदम्।
पूजामूलं गुरोमूर्त्तिर्मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥

मन्त्र जप = गुरुवाक्य। ध्यान = गुरुचरण। पूजा = गुरुमूर्त्ति। मोक्ष = गुरुकृपा। अतः पहले गुरुवाक्य जपे। उसके अनन्तर ज्योति तथा चरण का प्रकाशन होता है। तब ध्यान चलता है। ध्यान करते-करते रूप का अवतरण होता है। पूजा करते-करते साधक उस मूर्ति में प्रवेश करके मुक्त हो जाता है।

यदि शिष्य सत्‌शिष्य है, तब सद्‌गुरु अपने-आप आ जाते हैं। सत्‌शिष्य वह है जिसे गुरु पर पूर्ण विश्वास है, संशय नहीं है, जो वस्तुतः श्रद्धालु है। सद्‌गुरु के सम्मुख शिष्य का समस्त दोष कट जाता है। यहाँ तक कि अविश्वास भी कट जाता है। सद्‌गुरु अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञ। जहाँ सामान्य दया तथा विशेष दया, दोनों है, जो सर्वशक्तिमान हैं, वे सद्‌गुरु हैं। सद्‌गुरु तथा सत्‌शिष्य में स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। जब गुरु वस्तुतः ही सद्‌गुरु हैं, तब शिष्य भी सत्‌शिष्य होता है। अब शिष्य को कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता। वह आत्मनिवेदन करता है। अब उसमें पूर्ण निर्भर भाव है। इस स्थिति में गुरु शिष्य को अंगीकार-आत्मसात् करते हैं। गुरु तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिष्य के सम्बन्ध से यह समझ में आता है कि शिष्य का पुरुषकार जब पूर्णतम होता है, तब गुरु की सामान्य कृपा होती है। कृपा की वृद्धि के साथ-साथ पुरुषकार कम हो जाता है या पुरुषकार के साथ-साथ कृपा बढ़ती जाती है।

तत्त्व तो यह है कि दीक्षाकाल में गुरु जो देते हैं, उससे शिष्य का देहबोध तथा कर्त्तव्य का अभिमान कट जाता है। गुरुप्रदत्त कर्म करते-करते एक विशिष्ट भाव आता रहता है, जिससे यह समझ में आता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मात्र द्रष्टा हूँ। कोई प्रेरित करके करा रहा है, इससे क्रिया हो रही है। इस प्रकार यह भाव बढ़ता जाता है। पुरुषकार की तुलना में कृपा अधिक होती जाती है। शिष्य जब सत् है, तब उसका कर्तृत्वाभिमान शून्य है। अब उसके लिए गुरुकृपा ही एकमात्र बल है। शिष्य सद्गुरु का यन्त्रवत् है। शिष्य अब है साक्षी, द्रष्टा। यह द्रष्टाभाव आने से और कर्म समाप्त हो जाने से पूर्ण कृपाराज्य में प्रवेश मिलता है। यही है भक्तिराज्य-प्रवेश। तब अपना अभिमान, इच्छादि है ही नहीं। ईश्वरेच्छा ही मूल है।

यहाँ एक रहस्य की बात है। मनुष्य के जन्म लेते ही। भगवान् उसे दीक्षा देते हैं। वह ज्ञानबीज के साथ जन्म लेता है। यह केवल मनुष्य के साथ है। तभी पशु आदि में साधना भी नहीं है, दीक्षा भी नहीं है। तथापि मनुष्य को यह ज्ञानबीज काम नहीं आता। यह बहुत दबा रहता है। किसी-किसी में कारण विशेष से यह फूट जाता है। इसलिए सामान्यतः दीक्षा आवश्यक है। दीक्षा उस ज्ञानबीज को उद्दीप्त करने के लिए है, जो जन्मकाल में उसे मिला है। यदि यह बीज न हो, तब गुरु ज्ञान दे नहीं सकते। जो भीतर बीजरूप नहीं है, उसे बाहर से नहीं भरा जा सकता।

गुरुमुख से निकल कर ही विद्या (मन्त्र) वीर्यवान होती है। नाभि अथवा मूलाधार से जब गुरु शब्द का उच्चारण करते हैं, तभी उनका गुरुत्व है। यह चेतन शब्द है, तथापि संचार क्रिया के स्थूलत्व के कारण उसमें कुछ जड़त्व आ जाता है। तथापि अधिक क्षति नहीं होती। यह भी धीरे-धीरे निवृत्त हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृत्रिम तथा स्वाभाविक वायु

वायु सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु जब जीव जुड़ना चाहता तब वह वायु उसे सहायता नहीं करती। परन्तु प्रक्रिया विशेष से उस वायु को चालित करने से शरीर शीतल हो जाता है। क्रिया से उसका चालन होने से शरीर में तृप्ति तथा आनन्द का अनुभव होता है। यह क्रिया विशेष जिसे मैं कर सकता हूँ अथवा मेरे जैसे जीव कर सकते हैं, वह स्वाभाविक रूप से भी हो सकता है जैसे आँधी अथवा तेज हवा बहना। उससे भी तृप्ति मिलती है, तथापि मूल वस्तु है हवा। लेकिन दोनों क्रियाओं में भेद है। जब मैं वायु को चालित करता हूँ, तब वह कृत्रिम है। आँधी आदि स्वाभाविक है। पहली से जो तृप्ति मिलती है, दूसरी से उससे अधिक मिलती है। जब स्वाभाविक हवा नहीं बहती, तब पंखे का सहारा लिया जाता है। परन्तु सैकड़ों पंखे भी स्वाभाविक वायु के समान नहीं होते। यही भेद पुरुषकार तथा कृपा में है।

धाम

वैकुण्ठधाम आदि के नित्य धाम के एक-एक प्रान्तर में एक-एक धाम है। वैकुण्ठधाम में विष्णु के भक्त तथा उपासक हैं, तथापि सभी ने उनका दर्शन नहीं पाया है। कभी-कभी वहाँ के उत्सव आदि में उनके दर्शन होते हैं। कोई उनका दास है, कोई सेवक है। अनन्त प्रकार की सेवायें हैं। दर्शन के उपरान्त सेवा। सेवा का अधिकार सबको नहीं है। दर्शन का अधिकार सेवा से निम्न है, वह भी सबको नहीं है। परन्तु वैकुण्ठवास हो रहा है। जो वास्तविक भक्त हैं, उनका वैकुण्ठ त्याग नहीं होगा। उन्हें अन्य आकांक्षा नहीं है। सब कुछ उनको वहीं मिलता है। कुछ ऐसे भी भक्त हैं, जो वैकुण्ठ के नहीं हैं, तथापि वैकुण्ठ आ-जा सकते हैं। वे आते हैं, दर्शन करके चले जाते हैं। उनकी स्थिति अन्यत्र है। जो स्थायी वैकुण्ठवासी हैं, उनका अपना-अपना स्थान है। एक की जगह दूसरा नहीं आ सकता। प्रत्येक के स्थान का एक गौरव है।

यदि कोई व्यक्ति निरन्तर व्यक्त धाम-तीर्थादि में रहता है, तब नित्यधाम का तेज उसमें आविष्ट होने के कारण मरण के उपरान्त उस नित्यधाम में गति होती है। किन्तु क्षेत्रत्याग मानों नहीं होता, क्योंकि उससे बाह्य उपादान भीतर प्रवेश करता है। धाम में ही देहत्याग आवश्यक है। यदि कोई व्यक्त धाम में नहीं रह रहा है, तब भी उसे अव्यक्त धाम का तेज मिल जाये और ध्यान-क्रिया-चिन्तन से उसे बढ़ाये, तब भी वह नित्यधाम में प्रवेश पा सकता है। धामवासी धाम में रहते हुए भी सदैव देवदर्शन नहीं पाता। धाम तो लीलाक्षेत्र है। विश्राम करते समय देवता दर्शन नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देते। तब देवता सामरस्य में रहते हैं, निर्गुण में अवस्थित रहते हैं। उपासक उस समय द्रष्टा हो जाता है। उपासक तो सेवक है। सबको एक-एक सेवा मिली है। जो सेवा एक कर रहा है, उसे दूसरा करने का अधिकारी नहीं है। सेवा अर्थात् आनन्द-वर्द्धन, भोग सम्पादन। भोक्ता एकमात्र है देवता। वे ही भोग करते हैं। अर्थात् आनन्द को विक्षुब्ध करके आस्वादन करते हैं। सेवक प्रसाद पाता है। प्रसाद है कृपा अथवा आनन्द। सेवातत्त्व अति गम्भीर विषय है। आनन्द आस्वादन के अनेक प्रकार हैं। प्रत्येक प्रकार में पृथक् सेवक चाहिए। जहाँ नित्य सेवा है, वह स्वभावतः निष्काम होती है। अतः इसका कोई विनिमय नहीं है कि सेवा के बदले क्या मिलेगा? जैसे सेवा स्वाभाविक है, वैसे ही देवता का प्रसाद-दान भी स्वाभाविक है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृपा

पहले साधारण कृपा, जो आश्रित मात्र पर विद्यमान रहकर कृपा करती है। अनाश्रित पर यह कृपा नहीं रहती। वहाँ कर्मफल का नियम है। कार्य-कारण-भाव-मात्र साधारण कृपा ज्ञानबीज के संचार से प्रारम्भ होती है। तदनन्तर तीव्र पुरुषकार आवश्यक है। इसे ही कहते हैं आज्ञा पालन। आज्ञा पालन की जो चेष्टा है, उसे नियमानुवर्तिता कहा जाता है। अब गुरुवाक्य ही आज्ञा अथवा नियम है। इसका पालन ही कर्म है। यह करते-करते कर्म कट जाता है। प्रकारान्तर से अब ज्ञान पूर्ण हो गया। तब साधारण कृपा का उदय होता है।

कृपा स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है। इसमें कोई शर्त नहीं है। कोई Excuse नहीं है। ईश्वर कृपा नहीं कर सकते। वे कर्मफल देते हैं, जिसे हम कृपा मान लेते हैं। ईश्वर कुछ दान करते हैं, जो कर्मसापेक्ष होने से कृपा नहीं है। कर्मफल है। यह सुख दुःखमय होता है। जब यह कर्म निरपेक्ष हो तब कृपा है। गुरु कुछ दान करते हैं, परन्तु वह दान योग्यता सापेक्ष है (शिष्य की योग्यता के अनुसार होता है)। अतः यह कृपा नहीं है। जब यह योग्यता निरपेक्ष हो, तब मुक्ति है। तभी यह कृपा है। आनन्दमय कुछ दान करते हैं (आनन्ददान)। परन्तु यह भी योग्यता सापेक्ष होने से कृपा नहीं है। जब यह योग्यता निरपेक्ष हो, तब कृपा है।

कृपा दो प्रकार की होती है। प्रथम है साधारण कृपा, द्वितीय को विशेष कृपा कहते हैं। साधारण कृपा से सब कर्म नहीं कटते। प्रारब्ध को भोग से काटना होता है। संचित कर्म कट जाता है। कर्म समाप्त होने से इसकी उपलब्धि होती है। विशेष कृपा में कर्म कटा है। संचित कर्म नहीं रहता और नया कर्म होता ही नहीं। पिछले कर्म भी भोगने नहीं पड़ते। जब यह कृपा तीव्रतर होती है, तब प्रायः प्रारब्ध कट जाता है। सूर्य का प्रकाश देना कृपा है, परन्तु अन्धा वह प्रकाश नहीं पाता। इसमें सूर्य का दोष नहीं है, परन्तु उसकी कृपा निष्फल हो जाती है। साधारण कृपा किसी को लक्ष्य करके नहीं होती। अतः यह एक प्रकार का स्वभाव है। साधारण कृपा से ही गुरुत्व का प्रारम्भ होता है। जो आश्रय लेता है, वही कृपा पाता है। सभी ले भी नहीं सकते, क्योंकि उनका कर्म बाधक हो जाता है। योग्यता अथवा Receptivity भी सब में समान नहीं है। साधारण कृपा से किसी की भी योग्यता वर्द्धित नहीं होती। इसे कर्म से बढ़ाया जा सकता है। योग्यता की वृद्धि से कृपा प्राप्त की जा सकती है। एतद्विपरीत विशेष कृपा में योग्यता की अपेक्षा ही नहीं है। वह स्वयं योग्यता उत्पन्न करती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकमात्र पूर्ण ब्रह्म ही विशेष कृपा कर सकते हैं। वे ही योग्यता के मूल में हैं। वे ही कृपा के मूल में भी हैं। पूर्णब्रह्म की कृपा से पहले जीव में योग्यता आती है, तदनन्तर कृपा आती है। अयोग्य को योग्य बनाकर कृपा की जाती है। वास्तव में विशेष कृपा ही यथार्थ कृपा है। साधारण कृपा कर्मजनित चित्तशुद्धि या योग्यता लाभ सापेक्ष है। साधारण कृपा की सफलता अहेतुक होती है, क्योंकि कृपा रहने पर भी हेतु विशेष के अभाव में उसकी उपलब्धि नहीं होती। विशेष कृपा सर्वथा अहेतुक है।

पूर्ण ही यथार्थ कृपा कर सकते हैं, क्योंकि पूर्ण स्वतन्त्र तथा अद्वैत हैं। उनकी इच्छा ही मूल है। वहाँ कर्म नहीं है। मुक्त जीव भी कृपा कर सकते हैं, लेकिन कर्म के अधीन होकर कृपा कर सकते हैं। सिद्धजीव, देवता, कृपा नहीं कर सकते। वे कर्मफल दान कर सकते हैं। कृपा का उद्देश्य है दुःख से बाहर करना। यही ज्ञानदान है। जो स्वयं ज्ञान पाकर दुःख से बाहर नहीं जा सके, वे कैसे कृपा कर सकेंगे? मुक्त जीव स्वयं अद्वैत होने के कारण साधारण कृपा कर सकते हैं। जो पूर्ण के नीचे हैं, उनकी इच्छा पृथक्-पृथक् होती है। जीव मुक्त पुरुष की इच्छा के वशीभूत होकर कर्म नहीं करता, अतएव जीव की इच्छा पर मुक्त की इच्छा क्रिया नहीं करती। मुक्त की इच्छा साधारण कृपारूपेण प्रकट होती है। तथापि जीव जब तक अपनी इच्छा से उस कृपा को ग्रहण नहीं करता अथवा ग्रहण नहीं कर पाता, तब तक मुक्त की इच्छारूपी कृपा सार्थक नहीं होती। जीव का दुःख दूर नहीं होता। इस कृपा से जीव का संचित कर्म कट जाता है। नया कर्म और नहीं होता, तथापि नियति तथा प्रारब्ध रह जाते हैं। पूर्णब्रह्म ही प्रारब्ध को काट सकते हैं। उनकी इच्छा ही प्रारब्ध है। अन्यथा प्रारब्ध केवल भोग से कटता है। दुःख-भोग से पाप कटता है। सुख-भोग से पुण्य कटता है। वास्तविकता तो यह है कि प्रारब्धरूपी पाप-पुण्य तो पूर्णब्रह्म की इच्छा का विकास मात्र है।

यदि मुक्तजीव भक्त हैं, तब कुछ-कुछ ईश्वरत्व आ जाने के कारण कुछ-कुछ प्रारब्ध खण्डित कर देते हैं। पूर्णतः खण्डित नहीं कर सकते। कुछ न कुछ भोग जीव को भोगना ही पड़ता है। अधिकांश कट जाता है। सिद्धजीव या देवता कृपा नहीं कर सकते। तथापि यदि वे मुक्त तथा भक्त हैं, तब पूर्व नियम से कृपा कर सकते हैं। सिद्धजीव अथवा देवता कर्मफल दे सकते हैं। वे ही कर्मानुसार कर्मफल-प्रदाता होते हैं। उनमें यह शक्ति भी होती है कि कर्मफल को Adjust भी कर देते हैं। सामयिक दुःख को दबाकर वहाँ दूर स्थित उस जीव के पुण्य को खींचकर सुखविधान भी कर सकते हैं। असुरगण में विपरीत भाव होता है। देवता तथा असुर, दोनों ही जीव के कृतकर्म को नष्ट नहीं कर सकते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिन्दु-महाबिन्दु

जो विभु तथा व्यापक है, वह व्याप्य का स्पर्श नहीं कर सकता। वह निरंजन है। व्याप्य के अतीत हुए बिना व्याप्य को व्याप्य कैसे कहा जायेगा? व्याप्य से सर्वात्मना रूप से एकीकरण ही व्याप्ति है, तथापि उससे अतीत होकर! जो अतीत है, जब वह व्यापक है, तब वह एक और अखण्ड होने के कारण यथार्थ बिन्दु तथा आकाश है। यह सर्वत्र है, परन्तु किसी का भी स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार से वही सर्वात्मना भी है। इसकी और एक दृष्टिभंगी है। इसकी तरंग होती है। यह क्षुब्ध होकर प्रकाश के समान बिखर भी जाता है। इस कमरे में प्रकाश बिखरा है। कोने-अतरे में अँधेरा भी है। इसलिए यह प्रकाश कम-अधिक हो सकता है। व्यापक होता तब यह (प्रकाश) किसी का स्पर्श न करता। सबके साथ ऐक्य में रहता। ज्ञान तथा चैतन्य में यही भेद है। ज्ञान में भी अज्ञान मिला रहता है। तभी ज्ञान की व्याप्ति आंशिक है। इसी तरह जो कृपा व्यापक है, वह शुद्ध तथा मिश्रण से रहित है, परन्तु रहने पर भी न रहने जैसी स्थिति है।

(व्यापक-व्याप्य की चर्चा के अनन्तर वाच्य-वाचक-वाचकाभ्यास को समझना आवश्यक है। सर्वान्तर में वाच्य है। उसे घेरे रहता है वाचक। वाचक का आभास ही बाह्य है।) वस्तु की आभा ही शब्द या ज्योति के रूप में बिखरी रहती है। इस शब्द अथवा ज्योति को प्रवेश कराने से ही वस्तु में प्रवेश होता है। साक्षात्कार होता है। शब्द अथवा ज्योति के अन्दर प्रवेश करना जो है, वही है मन में प्रवेश करना। जब शब्द श्रुतिगोचर नहीं होता, ज्योति भी विलीन हो जाती है, तब मन भी विलीन हो जाता है। यह साक्षात्कार की सूचना है। जिस उपादान से शब्दोत्पत्ति होती है, उसी से मनोत्पत्ति भी होती है। तथापि शब्द एवं ज्योति प्रकृति है। मन है पुरुष। जहाँ तक शब्द है, वहीं तक मन है। जहाँ तक मन है, वहीं तक शब्द की सत्ता है। जिस वस्तु से आभा के रूप में शब्द अथवा ज्योति का विकास होता है, वहीं से उसी के साथ-साथ मन भी विकसित होता जाता है। पुरुष प्रकृति को चाहता है। अवसर आते ही दोनों मिलते हैं, तभी अन्तः में, अद्वैत में प्रवेश होता है। मन तो सदा ज्योति या शब्द को पाना चाहता है। पाते ही मिल जाता है। यही मन की स्थिरता कही गयी है। अर्थात् अब न मन है, न शब्द, न ज्योति। यह जो शब्द अथवा ज्योति की बात कही गयी, यह उदाहरण मात्र है। ऐसे ही रूप, रसादि को भी समझना होगा। अतएव रूप-रस आदि को पाते ही मन लीन हो जाता है। वैसी स्थिति में मन नहीं रहता। रूप-रस-शब्दादि भी नहीं रहते। पुरुष प्रकृति मिल जाते हैं। वस्तु प्रकाशित होती है। यही है प्रत्यक्ष।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब महाशक्ति का आवरण हट जाता है। इस जगत् में जिस शब्द-ज्योति-रूप आदि को पाते हैं, वह आभास मात्र है। वास्तविक होते तो उन्हें पाकर मन शान्त हो जाता। वस्तु का प्रत्यक्ष होता। इस आभास के मूल में जाने पर ही वास्तविक शब्द, ज्योति तथा रूपादि का सन्धान मिलता है।

वस्तु की जो आभा है वही एक ओर रूप-रस-शब्द आदि है, अन्य ओर है मन। इस आभा के सहारे ही वस्तु को पाया जा सकता है। क्योंकि मन से इस आभा का योग होने से वस्तु का उदय होता है। प्राथमिक स्थिति में आभा नहीं है, मन भी नहीं है, केवल है आभास। इस आभास को मिटाना ही मनशुद्धि का उपक्रम है। अर्थात् तब चित्तशुद्धि एवं भूतशुद्धि होती है।

ज्ञान से भिन्न जो प्राप्ति है वह अभेदप्राप्ति नहीं है। ज्ञान = देखना। देखते-देखते ही एक हो जाना है। जो देखा जाता है, उसका अंश देखने वाले द्रष्टा में जाता है। फलतः दोनों समान हैं। विक्षिप्त दृष्टि से देखना सम्यक् देखना नहीं है। दृष्टि के एकाग्र हो जाने पर और वह दृष्टि वस्तु के चारों ओर 360° में पड़ने से वस्तु का बहिरंग साक्षात्कृत होता है। 'मैं' द्रष्टा में रहता है, अतः दृश्य की तुलना में द्रष्टा में प्रबलता आ जाती है। क्रमशः द्रष्टा दृश्यात्मक हो जाता है, तथापि मूलतः वह द्रष्टा ही रहता है। चारों ओर जीतने के लिए अधः-ऊर्ध्व को जीतना आवश्यक है। चारों ओर जीत होने पर वृत्त (बहिरंग) एक रेखा में परिवर्तित हो जाता है। अब वृत्तभाव नहीं रह जाता। सरल रेखा रह जाती है। इस रेखा के दोनों प्रान्त दो मेरु हैं। दो विसर्ग बिन्दु हैं, ऊर्ध्व तथा अधः। इनको जीत लेने पर अन्तःप्रवेश होता है। तब बाहर का कुछ भी नहीं रह जाता। केन्द्र में स्थिति होती है। तब वह वस्तु ही 'मैं' हूँ, यह बोध में आता है। यही ज्ञान क' फल है। चतुराम्नाय, षड़ाम्नाय का यही अर्थ है। हम जब किसी वस्तु को देखते हैं, तब वास्तव में वस्तु की विकीर्ण रश्मियों को देखते है। मानों वृत्ताकार में 360° राशि क्रमशः एक के बाद एक परिलक्षित होती है। हमें बिखरी रश्मियों को एक रश्मि में लाना होगा। नहीं तो एक-एक रश्मि को नहीं देखा जा सकेगा। प्रत्येक वस्तु किरण जाल से घिरी है, जो की वर्णमाला है। इनको समष्टि में करने से योगमाया का आवरण कट जाता है। केन्द्र में प्रवेश मिलता है। यही है षट्चक्र भेद। सहस्रार की कर्णिका में प्रवेश।

केन्द्र में जैसे सभी Radius एक हैं, वैसे ही कारण बिन्दु में ही सभी शक्तियाँ एक हैं। विचारार्थ इन शक्तियों को रश्मि मान लें। ये मूलबिन्दु में एक हैं। अनेक प्रकार की रेखाओं के सहारे जगत् का भाव व्यक्त होता है। सरल रेखा जहाँ एकाकार है, वहाँ पर समस्त भाव महाभाव रूप से एक हैं। कार्यबिन्दु के आविर्भाव और उसकी प्रणाली को जानना आवश्यक है। कारणबिन्दु से निर्दिष्ट वर्ण निर्दिष्ट क्रम से क्यों आविर्भूत होता है? कारणबिन्दु की अपनी स्वतन्त्रता हो सकती है। यही आदिसर्ग (सृष्टि) का मूल है। आदिसृष्टि के अनन्तर वह इच्छामूलक है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् आदिसृष्टि के उपरान्त यदि कर्पूर की इच्छा हो, तब कारणबिन्दु से केवल कर्पूर ही होगा। अर्थात् कारणबिन्दु कर्पूर नामक कार्यबिन्दु रूप में परिणत होगा, किन्तु इच्छा करने से पहले ही यह कर्पूर अव्यक्त में था यह कहना पड़ेगा। अन्यथा उस विषय की इच्छा कैसे हुई? अतएव इच्छा सर्ग के पूर्व से ही मूलसृष्टि या कार्यबिन्दु की सृष्टि होना आवश्यक है। इच्छा के फल से जो सृष्टि होती है, वह कारण से एकात्म होती है। इसलिए इच्छा के कारण कारणबिन्दु से इच्छा का आकार निकल जाता है, अर्थात् कर्पूर का भाव कार्यबिन्दु के रूप में बाहर आता है। बाहर कर्पूर को Pre-Exist किये बिना भीतर से कर्पूर बाहर नहीं हो सकता। इसी तरह से भीतर यदि कर्पूर न हो, तब बाहर के कर्पूर में कर्पूर का स्फुरण नहीं होगा। निजात्मा से कर्पूर बाहर होने का तात्पर्यार्थ यह है कि वे सारे वर्ण उसी क्रमविन्यास में बाहर भी हो जाते हैं। बाहर आकर व्यक्त कर्पूर का रूप धारण करते हैं। पहले वह अन्तर में Potency रूप में था। यही इच्छाशक्तिमूलक सृष्टि है।

मान लीजिये कि कारणबिन्दु में 50 वर्ण (अथवा 50 रश्मियाँ) एक हुए हैं। उससे क, ल, प, स, म ये 5 वर्ण इसी क्रम से बाहर निकालें तो इस शब्द का वाच्य कर्पूरबिन्दु रूप में व्यक्त होगा। क-ल-प-स-म ये 5 वर्ण एक स्फोट के व्यंजक हैं (मान लें कि इन 5 वर्णों का अर्थ है कर्पूर Camphor) कार्यबिन्दु, कर्पूर का बिन्दु। बाहर के प्रभाव से यह क्रमशः वर्द्धित होता जायेगा।

इसी के साथ सृष्टि तत्त्व की पर्यालोचना आवश्यक है। मूलवस्तु में पुरुष एवं प्रकृति एकाकार हैं। अर्थात् शिव-शक्ति एकाकार हैं। उनमें स्वातन्त्र्य है। यही अनादि स्पन्द है। इसके स्फुरण से सृष्टि होती है। प्रथम स्फुरण से मूल वस्तु में मानों एक विभाग होता है। फलतः उस अव्यक्त से एकांश व्यक्त होता है। व्यक्त होती है प्रकृति। पुरुष उससे अतीत तथा निरंजन ही रहता है। व्यक्त ही आदिसृष्टि है। यह प्रथम स्फुरण ही इच्छा है। मूलवस्तु सत्यस्वरूप, चैतन्य तथा आनन्द है, परन्तु पुरुष तथा प्रकृति के एकाकार होने से उसका प्रकाश नहीं है। इच्छा के आविर्भाव के कारण इस अखण्ड सत्ता में विभाग होता है। एक भाग होता है चैतन्य। अन्य होता है आनन्द। एक होता है पुरुष, अन्य है प्रकृति। पुरुष है भोक्ता। प्रकृति होती है भोग्या। आनन्द जब चैतन्य से पृथक् है तब वह भोग्य होने (प्रकृति होने) से ही अनन्त कलाविशिष्ट होकर परिलक्षित होता है। अतः कलातीत चैतन्य उससे अतीत हो जाता है। यही है चित्कला। व्यक्त प्रकृति या महत् तो अव्यक्त प्रकृति का एकांश (छुद्र) है। इसमें अनन्त कला की 16 कलायें हैं। उनमें से प्रकृति की 15 कला तथा पुरुष (चित्कला) की एक षोडशी कला कही जाती है। महान् आत्मा ही बिन्दु है। यह वृत्त के आकार में कल्पित है। केन्द्र पुरुष अथवा चित्कला (षोडशी कला), उसके चतुर्दिक् 15 कला। यहाँ अहंभाव का पूर्ण विकास है। यहाँ पर बोध-आनन्द, सब पूर्णतः प्रकाशमान है तथा आधारानुरूप पूर्णत्व भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अव्यक्त से महत् अथवा आत्मा का प्रकाशन रहस्यावृत्त है। पहले एक कला की अभिव्यक्ति होती है, जो अव्यक्त का ही है। व्यक्त रूप है। यही है ताराख्य महाविद्या। यही परमेश्वर के अनुरूप भी है। इस एक कला को प्रतिपद तिथि कहा जाता है। यही है पश्यन्ती वाक्, अमृतकला। अव्यक्त ही अमावस्या है। अमावस्या ही काली है। 15 कला पूर्ण होने पर वही है पूर्णकला ललिता, त्रिपुरा, षोडशी, राजराजेश्वरी। सम्पूर्ण शुक्लपक्ष तारा से षोडशी तक के विकास का पथ है। राजराजेश्वरी परमेश्वर का महत् रूप है। बिन्दु जब नहीं रहता, तब कलाओं का अहंभाव नहीं जागता। बोध, भाव आनन्दादि कुछ भी चेत्यमान नहीं होते। 15 कलाओं में समस्त शक्तियाँ हैं। अव्यक्त के सम्बन्ध में शब्द नहीं बतला सकते। यहाँ जिस अहंभाव की बात कही गयी है, वह पूर्ण अहम् है। यही आत्मा है। यहाँ शुक्ल पक्ष नित्य चल रहा है। अतएव नित्य ही अहम् आपूरित होता है। परन्तु जब कृष्णपक्ष चलता है, तब क्रमशः अहम् रूप में बिन्दु से कला का क्षय होने लगता है। यही है नैरात्म्य अथवा शून्य की ओर की गति। अमावस्या ही शून्य है। निर्वाण है। यहाँ जो पूर्णिमा है, वही है योगी का लक्ष्य। माध्यमिकों का लक्ष्य है अमावस्या। बाहर से कला का उपसंहार कर एकाग्र होना ही योग में प्रवेश है।

बिन्दु को आधार माना गया है। यदि कलायें क्रमशः संचित न होकर एक नहीं हो जाती, तब उनमें आधेय (धर्म, ज्ञान, आनन्द आदि) नहीं रह सकता। अव्यक्त से जो निकलता है, वह तो एक है। किन्तु स्वगत भेद है 15 कला। यह जो एक है, वही 15 कला के आविर्भाव रूप में प्रकाशित होता है। 15 को अन्त्यकला कहते हैं। अन्त्यकला की व्यक्तता के साथ-साथ बिन्दु का घटित होना माना गया है। जब परिधि का आवर्तन पूर्ण है तब वह एकमात्र बिन्दु प्रकाशित हो जाता है। यही बिन्दु है। यही आत्मा है। परिधि आत्मशक्ति का नामान्तर है। परिधि का प्रत्येक बिन्दु ही एक-एक रेडियस का छोर है। समग्र परिधि तथा समग्र रेडियेशन एक ही बात है। यह होने से केन्द्र का प्रकाशन, प्रकारान्तर से आत्मा का आविर्भाव सम्भव है।

आत्मा का आविर्भाव कैसे होता है? आवर्त्तन को समझें। प्रत्येक कण अपने चारों ओर घूम रहा है। यह रोटेशन है। जब एक रोटेशन हो जाता है, तब बाहरी पथ में कुछ आगे बढ़ जाता है। जैसे मिनट की सूई के चलने से घण्टे की सूई (घड़ी में) धीरे-धीरे चलती है। इसी प्रकार से कण जितना अपने चारों ओर घूमेगा, उतना ही दूसरे के चारों ओर घूमना होगा। इसीलिए नित्यकर्म करने से अपने आप ही उन्नति होती है। अपना काम करने से पराये का भी काम हो जाता है। जब एक बार कण अपने जन्म-स्थान में लौट आये, तब उसी समय मृत्यु हो जाती है। इस रूपान्तर से वह और भी सारवान् होकर फिर वैसे ही घूमने लगता है। इस बार का सर्कमफरेन्स और भी छोटा होगा। प्रथम वृत्त का केन्द्र आवर्त्तन समाप्त होते ही प्रकट हो जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इसी तरह प्रत्येक आवर्त्तन के साथ-साथ रेडियस छोटा होता जाता है। रेडियस का मान क्रमशः एक में पर्यवसित होता है। शून्य में पर्यवसित नहीं होता। अर्थात् शून्य नहीं हो जाता। तदनन्तर रेडियस, सर्कमफरेन्स तथा सेन्टर (केन्द्र) एक हो जाते हैं। एकात्मक हो जाते हैं। यदि प्रत्येक कला का एक-एक आवर्त्तन माना जाये, तब पन्द्रह कला हेतु 15 बार का आवर्त्तन मानना ही होगा। 15 पूर्ण होते ही एक भाव की उपलब्धि होती है। वहाँ सर्कमफरेन्स या व्यक्त कला, रेडियस या स्पन्द, तथा सेन्टर अथवा कूटस्थ चित्कला आदि एकाकार होकर आत्मरूप में स्फुरित होते हैं। बिन्दुरूप यही है। जिस जगत् में हम हैं उसका उपादान 15 कला का आवर्त्तन पूर्ण हुए बिना पूर्ण बिन्दु नहीं होता। यदि यह जगत् 5 कला का होता, तब हम पंचम कला का आवर्त्तन पूर्ण होते ही बिन्दु (अहम्) पा जाते। परन्तु ऐसा नहीं है। यह जगत् 15 कलात्मक है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के मूल में ऐसा एक अहम् है। यही आत्मा का कारण है। उसके ऊपर और अहम् नहीं है। इसे तोड़ने की प्रणाली है। कृष्णपक्ष। प्रतिपत्, द्वितीया आदि स्फुरन्त शक्तिमात्र हैं। सभी पृथक्-पृथक्। बिना बिन्दु के समष्टि नहीं होती।

महाबिन्दु से चतुर्दिक् प्रभा बिखरती है। यह प्रभामण्डल ही उनका राज्य है। यहाँ उनका आकर्षण है। इसमें जो आ पड़ता है, उसी को वह खींचते हैं। यह अहेतुक खिंचाव है। आने भर की देर है। उपादान जितना निर्मित होता है, उतना ही कला का प्रकर्ष होता है। कला के पूर्ण होकर बिन्दुभाव हुए बिना उनका खिंचाव समझ में नहीं आता। कला की वृद्धि के साथ-साथ अपने मध्य की समस्त कला की समष्टि से ही बिन्दु का निर्माण होता है। उस समय उनकी सत्ता की उपलब्धि हो सकेगी। बिन्दु के गाढ़ हुए बिना उसको पकड़ा नहीं जा सकता। जो साधक पुरुषकार से प्रकृति (कला) का विकास कर रहे हैं, वे अग्रसर हो रहे हैं। तथापि वे भगवत्तत्त्व नहीं जान पाते। निराश होने का कारण नहीं है। महाबिन्दु के आकर्षण-क्षेत्र से बाहर रहने तक कुछ समझ में नहीं आता। फिर अचानक प्रकाश प्रस्फुटित हो उठता है।

शिव ऊर्ध्वलिंग हैं। इसलिए वे ऊर्ध्वरेता हैं। ऊर्ध्वरेता के बिन्दु की अधःगति नहीं हो सकता। इसलिए अधोगति के अभाव में सृष्टि नहीं होती। बिन्दु की अधोगति = सृष्टि। ऊर्ध्वगति = संहार। अधोगति कामजन्य है। ऊर्ध्वगति है प्रेमजन्य। स्थिति में न काम है न प्रेम। बिन्दु की अधोगति से जो दृश्य होता है (निर्मित होता है) वह रूप है। अब इन्द्रियाँ बहिर्मुखीन हैं। नेत्रद्वय ऊर्ध्वगतिरूप अब नहीं रह जाता। ऊर्ध्वगति में रूप रहता ही नहीं। तृतीय नेत्र विरूप की ओर लक्ष्य रखता है। तभी शिव है विरूपाक्ष।

शक्ति के संयोग के बिना बिन्दु अधोगामी कैसे होगा? उसी प्रकार शक्ति-संयोग के अभाव में वह ऊर्ध्वगामी भी कैसे हो सकेगा? शक्तिसंयोग से बिन्दु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कम्पित होता है। कम्पित होकर शक्ति से एक होता जाता है। बिन्दु जब तक बाह्य पदार्थों में मिश्र है, अशुद्ध है, तब तक वह कम्पन के अनन्तर नीचे उतर पड़ता है। सूक्ष्म सत्ता में घूम रहे जीव अथवा बाहर के परमाणु भारी मात्रा में उसमें प्रवेश करके उसे नीचे उतार लाते हैं। परन्तु जब बिन्दु शुद्ध है, तब बाहर अथवा नीचे की किसी भी वस्तु, जीवसत्ता अथवा नीचे-बाहर के परमाणु का उसमें मिश्रण नहीं रह सकता। तब वह मानों जम जाता है। अखण्ड रह जाता है। अब यदि उससे शक्ति का संयोग हो तब वह तत्क्षण कम्पित होकर ऊपर उठने लगता है। यहीं से शिवभाव का प्रारम्भ है। उसी समय से ऊर्ध्व लिंगत्व, विरूपाक्षत्व, त्रिनेतत्व है। जम जाने पर भी वह टूटता नहीं। परन्तु गलता है। धीरे-धीरे शक्ति के समान स्वच्छ, व्यापक हो जाता है।

सामान्य अवस्था में शक्ति (प्रकृति) सम्बन्ध होते ही जड़ परमाणु उसे (बिन्दु को) स्थूल करते हैं और नीचे उतार लाते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें जड़ संस्कार है। इस प्रकृति में भी जड़ाधिक्य है। इसलिए उसके सम्पर्क से बिन्दु का सुप्त जड़ांश जागता है। इसी कारण बाहर का जड़ांश आकर उसे वेष्ठित करके जड़ के देश में ले जाता है। यदि बिन्दु वास्तव में जड़ संस्कार से रहित हो, तब प्रकृति संयोग से (जड़ प्रकृति के संयोग से) उसे प्रकृति का चैतन्य अंश ही जगाता है। बिन्दु जड़ांशहीन है। इसलिए बाहर का जड़ नहीं आता, नहीं ढकता, नहीं उतारता। वीर्य की अधोगति नहीं होती, अपितु ऊर्ध्वगति होती है। यही है रासलीला। बिन्दुसिद्धि (मन्त्र चैतन्य) के उपरान्त रासलीला। बिन्दुसिद्धि के लिए पहले बिन्दु को जगाना ही कठिन है। जड़ प्रकृति इसे नहीं जगा सकती। जब तक यह जगता नहीं, तब तक जड़ प्रकृति का संग त्याज्य है। किन्तु यदि चित्शक्ति बिन्दु में संचरित है, तब वह बिन्दु को जगायेगी। अब क्रम से बिन्दु सघन होता जायेगा। अब बिन्दु का जड़ अंश चित्शक्ति के आघात से बाहर हो जायेगा। सघन बिन्दु क्रमशः ऊर्ध्व की ओर जाने लगता है।

चैतन्य व्यक्त तथा अव्यक्त है। अव्यक्त चैतन्य है शिव अर्थात् बिन्दु। व्यक्त चैतन्य है शक्ति अर्थात् रेखा। बिन्दु से रेखा का प्रसार होता है। संकुचन में रेखा सिकुड़कर बिन्दु हो जाती है। जब रेखा फैलकर शुद्धसत्त्व में आती है, तब उसका सत्त्व है सत्रूप। यदि रेखा बिन्दु में लीन हो जाती है, तब शुद्धसत्व भी असत् रूप है। परन्तु स्थिर है, क्योंकि प्रवाह आने पर उसी में द्योतित होगा। किन्तु जब प्रवाह बिन्दु से सत्व में, पुनः सत्व से बिन्दु में अनवरत आता-जाता रहता है, तब शुद्धसत्व से नित्य सम्बन्धभाक् होकर चैतन्य व्यक्त ही रहता है। इस समय कहीं भी रेखा का अभाव नहीं रहता। इससे नित्यानन्द प्राप्ति होती है। इसका कारण है कि शुद्धसत्व से निरन्तर प्रवाह चलता आ रहा है। परन्तु बिन्दु से जो प्रवाह सत्व में पड़ रहा है, यदि वह निरन्तर नहीं है, तब उस प्रवाह के सत्त्व से बिन्दु में लौटते समय जो आनन्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है, वह आनन्द बिन्दु में लय होने के पूर्व ब्रह्मानन्द अथवा पूर्णानन्द का लाभ करता है। अब प्रवाह अथवा रेखा के बिन्दु में विलीन होने पर आनन्द नहीं रह जाता। अब सत्त्व से असम्बद्ध रहने के कारण शक्ति भी रेखात्मक व्यक्त नहीं रह जाती, प्रत्युत् अव्यक्त रह जाती है। एक बिन्दु ही शेष रह जाता है। यही है शिवतत्व। इस स्थिति में उसे बिन्दु भी नहीं कह सकते।

यदि बिन्दु से निरन्तर प्रवाह रहता है, तब सत्त्व से भी निरन्तर प्रवाह रहेगा। फल है नित्यचक्र का आविर्भाव। यही लीलारस भी है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि बिन्दु से शक्ति में पड़ने के समय शक्ति रेखात्मिका होने पर भी अव्यक्त होती है। सत्व में पड़ने से वह व्यक्त हो जाती है। तब उसे चैतन्य कहते हैं। परन्तु लौटने के समय वह पुन: रेखात्मिका होती है, तथापि रहती है स्वयम्प्रकाश, व्यक्त। यह अन्त:प्रकाशशील चैतन्य या आनन्द है। इसकी पराकाष्ठा बिन्दु में विलय के पहले होती है। विलयोपरान्त सत्-चित्-आनन्द तीनों अव्यक्त। यही पूर्णत्व है। जिसे सत्त्व कहा गया, वह भी बिन्दु ही है। वह सदाशिव, ईश्वर तथा विद्या है। शिव हैं महाबिन्दु। सत्त्व अथवा सदाशिव का आसन है, प्रेतासन। चैतन्य जब शुद्धसत्व से ऊपर आकृष्ट होगा (शुद्धसत्व से ऊर्ध्व जायेगा) विपरीत स्रोत से, तब शक्ति शिव में पड़ेगी। अत: यह होगी विपरीत रतासक्त शक्ति!

बिन्दु से एक रेखा होती है। बिन्दु से बिन्दु में संयोग नहीं होता। होने से ही हो जायेगा सायुज्य। रेखा और कुछ नहीं है। वह है दो बिन्दुओं के प्रभामण्डल की किसी एक रश्मि से दूसरे बिन्दु के प्रभामण्डल की किसी रश्मि का आकर्षण। जो प्रबल है, वह अन्य को खींचती है। उस समय सबल पक्ष में भी एकाग्रता होती है। दुर्बलपक्ष में भी एकाग्रता होती है। फलस्वरूप रश्मि जो असंहत स्थिति में अव्यक्त रही, अब व्यक्त होकर रेखाकृति धारण करती है। यह नैयायिकों की द्व्यणुक जातीय है। वास्तव में परमाणुद्वय संयुक्त नहीं होते। एक बिन्दु के प्रभाराज्य से यदि उसके कर्षण की अपेक्षा प्रबल कर्षण से बिन्दु को हटाते हैं, तब दोनों ही बिन्दु अव्यक्त हो जाते हैं। कारण यह है कि असंहत होने के कारण रश्मि अव्यक्त रहती है। बिन्दु है अव्यक्त निखिल शक्ति। रेखा एक प्रकार से निखिल शक्ति का समष्टिभावेन प्राकट्य है। अतएव एक रेखा समन्वित बिन्दु सर्वशक्तिमान् है। उसे केवल नीचे की शक्ति की तुलना में विशिष्ट शक्ति कहा जायेगा, क्योंकि उसमें यावतीय शक्ति विलीन है। (राम कहो अथवा श्याम कहो। जिस रूप में ही लो, वही पूर्ण है) यही साकार महाशक्ति है। केवल बिन्दु ही निराकार महाशक्ति है, क्योंकि वहाँ रेखा प्रकट नहीं है।

यह जो रेखा है, वह केवल बिन्दुद्वय मात्र नहीं है। इसी कारण वह तज्जन्य अभिनव वस्तु है। इसलिए यह एक भी है। अत: इसका प्रभामण्डल रेखारूपेण नहीं है। प्रकट रूप में चतुर्दिक् रश्मियाँ हैं। ये रश्मियाँ रेखात्मक प्रकट रश्मियों से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलक्षण हैं। बिन्दु देशकाल के अतीत, नित्य है। सृष्टिकाल में उससे रेखा विकसित होती है। यह एक डाइमेंशन है। इसी के सन्निवेश से यन्त्र, चक्र होते हैं। मूलधाम समत्रिकोण है। यह क़ारण शरीर है। इसके बाद लिंगदेह है, जो समतल है। इसमें दो डाईमेंशन हैं। दृश्य तथा छाया। लेकिन घनत्व है। लिंगदेह मानों दर्पण की परछाईं है। बिम्ब स्थूल है। प्रतिबिम्ब लिंग है। बिम्ब तीन डाईमेंशन है। प्रतिबिम्ब दो डाईमेंशन और स्थूलदेह घन क्यूब जैसे मूर्त्ति या प्रतिमा अर्थात् तीन डाईमेंशन।

बिन्दु महामाया शुद्धसत्व है। यहीं से 'एक' को पाया जाता है। एकाग्रता यहाँ से ही होती है। यही ज्ञानस्थान है। एकाग्रता की पूर्णता ज्ञान-प्रदायिका है। यही ज्ञानचक्षु अथवा दिव्यचक्षु का स्थान है। इस बिन्दु लाभार्थ सम्प्रज्ञात समाधि चाहिये। अर्थात् प्रज्ञा हेतु समाधि। किन्तु व्यक्तिविशेष में समाधि व्यतिरेक से भी प्रज्ञोदय हो सकता है। अर्थात् समाधि के विना भी। उसमें प्रज्ञा का संचार वास्तव में बाह्य प्रज्ञा से ही होता है। उससे अपना सुप्त प्रज्ञा बीज जाग जाता है। व्यक्तिविशेष में यह प्रज्ञा जागकर भी एक स्थान में संहत नहीं हो पाती। प्रज्ञा जगी रहती है, तथापि विक्षिप्ततावशात् एक स्थान पर संहत नहीं रहती। उसे समाधि—एकाग्रता का अभ्यास करना होगा। फलतः समाधि के बिना किसी की प्रज्ञा विकसित नहीं होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ज्ञान के बिना एकाग्रता नहीं होती। एकाग्रता केवल ज्ञान को प्रकाशित करके प्रत्यक्ष करने के लिए है। यदि गुरुकृपा से ज्ञान अधिगत न हो चुका हो, तब एकाग्रता कैसे सिद्ध होगी? अतः ज्ञान, तब योग, तब ज्ञान की पूर्णता। बिन्दु के क्षोभ से ही भाव विकसित होता है। भाव = शुद्धसत्व की तरंग। गुण उसका स्वरूप है। वही भावातीत है। यही भाव प्रकृति-गर्भ में बीजरूप में पड़ता है और सृष्टि का कारण होता है। गुण है उसका स्वरूप। वही भावातीत है। भाव का खेल है षट्चक्र के ऊपर। वही आनन्द अथवा लीला राज्य है। भावों की समष्टि है महाभाव। उसकी जहाँ शान्ति है, वही ब्रह्मपद है। भाव ही शक्ति है। भाव ही चेतन शब्द, ॐकार, महानाद, परमज्योति, दिव्यधाम, देवगण का प्राणरूप है।

बिन्दु का प्रतिबिम्ब है आज्ञाचक्र।

बिन्दु क्षुब्ध होकर रेखा होता है। इसी रेखा से वर्णमाला का विकास होता है। यह रेखा जो बिन्दु से निकलती है, क्रिया या गतिरूप में संचालित होती है। यह बिन्दु है निष्क्रिय शक्ति। रेखा सक्रिय शक्ति है, जो साकार है। रेखांकन समाप्त होते ही बिन्दु शून्य हो जाता है। क्योंकि उसका सत्त्व अथवा सार उठ जाता है। उठना अर्थात् रेखा के आकार में परिणत होना सत्त्व समाप्त हो जाने से रेखा नहीं रहती। तभी मातृका समाप्त होती है। तब वह वर्णमाला ज्योति अखण्ड रूप में एक स्थान में प्रकाशित होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्धकार राज्य में 15 कला से कम कलायें निर्वासित हैं जो रेखात्मक हैं। प्रथमकला है सरल रेखा। उसके अनन्तर वक्ररेखा। प्रथम कला है प्रतिपद। यह रेखा होते हुए भी सबसे छोटी है। बिन्दु नित्य अव्यक्त भाव के साथ ही रहता है। उसी का अनुसरण रेखा में होता है। इसलिए क्रम से कला के विकास में रेखा गोलाकार हो जाती है, परन्तु पूरा वृत्त नहीं बनाती। बिन्दुसंचार के अभाव में वृत्त पूरा नहीं हो सकता। यदि वृत्त होता तभी मध्यबिन्दु अभिव्यक्त होता। अथवा ऐसे भी कह सकते हैं कि बिन्दुसंचरण बिना वृत्त पूरा नहीं होता तथा वृत्तपूर्ण हुए बिना बिन्दुसंचरण नहीं होता। यह रेखा ही कला है। एक प्रकार से यह बिन्दुसमष्टि भी है। दूसरे हिसाब से बिन्दु = रेखा की समष्टि। बिन्दु का आत्मप्रकाश है रेखा। रेखा का आत्मगोपन ही है बिन्दु।

निर्विशेष कारण बिन्दु है — निष्कल, निरवयव, सामान्यात्मक, महाबिन्दु, अभेद, अक्रम।

सविशेष कारणबिन्दु है—निष्कल आभास, निरवयव आभास, विशेषात्मक, भेदाभेद अक्रम।

कार्यबिन्दु है—कलासमष्टि। देखने में अनन्त प्रकार के भेद। क्योंकि रेखा का अनन्त विकास हो सकता है, क्योंकि बिन्दु का मैनिफिस्टेशन ही कार्यबिन्दु है। यह रेखात्मक है।

कार्यबिन्दु अनन्त प्रकार के हैं। यह सविशेष कारणबिन्दु का अभिव्यक्त रूपक्रम है।

ठीक से बिन्दु भी कोई नहीं देखता। यदि बिन्दु को अणुवीक्षण यन्त्र से देखो, तब दृष्टिगोचर होगा कि वह नाना प्रकार की रेखामय एक जटिल सत्ता मात्र है। वह रेखा है। बिन्दु नहीं है। रेखा अर्थात् अपूर्ण कला। अव्यक्त बिन्दु वह है जो देश-काल से परे, अचल, स्थिर, निर्विकार तथा निरवयव है। इसे रीयल पाईन्ट भी कह सकते हैं। व्यक्त बिन्दु व्यावहारिक है। यह गति से युक्त बिन्दु है। अतः रेखात्मक है। व्यंजकवृत्त का आविर्भाव अव्यक्त बिन्दु के समविकिरण से होता है। यह विकिरण ही व्यञ्जना है। अव्यक्त बिन्दु विकिरण के कारण वृत्त, व्यासार्ध तथा केन्द्र बन जाता है। अब वह व्यक्त बिन्दु है। विकिरण कम-अधिक भी हो सकता है। व्यक्त बिन्दु सावयव है। इसके तीन अंश हैं। प्रथम है केन्द्र जो आत्मा अथवा विश्रान्त शक्तिरूप है। द्वितीय है विकिरण रेखा, रेडियस अर्थात् देवता। शक्ति कार्यरत। यह सरल रेखा है। तृतीय है परिधि अर्थात् भूत (मैटर) तथा शक्ति। यह वक्ररेखा है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृष्णतत्त्व (कृष्णज्योति तत्त्व)

बीज से ज्योति का विकास होता है। मानो 'क' बीज है। यह एक ज्योतिर्मण्डल अथवा धामरूप है। जिस केन्द्र से यह ज्योति विकीर्ण हो रही है, वही इस मण्डल का अधिष्ठाता अथवा मण्डलेश्वर है। इसमें कोटि-कोटि सत्व हैं। उनकी विभिन्न प्रकार की स्थिति है। 'क' की ज्योति ही 'क' ज्योति है किन्तु एक विशेष आभा है क्योंकि उसका सत्व अब भी पूर्णता से सायुज्य नहीं पा सका है। जैसे उदाहरणार्थ कृष्ण ज्योति। कृष्णनाम जप करते-करते उस ज्योति में प्रवेश हुआ। उस कृष्णज्योति (धाम) में उस जापक का स्थान हुआ। वहाँ खोज से उसे ज्योति मिलेगी। दिव्य चक्षु से देखने पर यह पहचानी जायेगी। यद्यपि उसने कृष्णधाम की सामान्य ज्योति ही पायी है तथापि यह पूर्वाभास रूप है। अभी जापक सालोक्य में है। सारूप्यभाव नहीं पा सका है। उसका रूप अभी भी कृष्णरूप नहीं है। क्या उसका पूर्व रूप नहीं है? नहीं, रूप है। जिस रूप में रहकर उसने धाम (ज्योति) पाया है, वह अभी भी कायम है। उस रूप की विशेष किरण के कारण उसकी विकीर्ण आभा भी सामान्यतः कृष्ण ही है। ज्योति होने पर भी विशिष्टता से युक्त है। इसी कारण कृष्णालोक में ऐसे हजारों-हजार तत्त्व हैं, जिनको अभी कृष्ण का रूप नहीं मिल सका है। वे विभिन्न रूपधारी हैं। तथापि उनकी सामान्य ज्योति कृष्णज्योति ही है। यदि ऐसा न होता, तब उनको यहाँ प्रवेश ही न मिलता। उनकी ज्योतिगत् विशिष्टता अपने पूर्व स्वकीय रूप की अनुवृत्ति के कारण है।

धाम में और भीतर भी कुछ सत्त्व है। उनका रूप कृष्णरूप ही है। उनकी देह किरण में सामान्यतः भेद तो नहीं ही है, तथापि कुछ अलग है। यद्यपि सभी कृष्णरूप हैं, तथापि सभी समान शक्तिमान् (कृष्ण के समान) नहीं हैं। इसलिए अत्यन्त सूक्ष्म भेद होते हुए भी रूपगत तथा ज्योतिगत भेद है। धाम में और भीतर शक्तिगत भेद कुछ भी नहीं है। इसलिए सभी सत्त्व (सिद्धगण) समरूप में कृष्णशक्ति, कृष्णरूप तथा कृष्णज्योति हैं, किन्तु सत्त्वगत भेद है। इससे और भी भीतर सत्त्वगत मूलभेद भी नहीं है। तब हैं एक ही कृष्ण। यह एकत्व है। बहुः एक में लीन हो गया। स्फुरण काल में इसी एक से बहुः निकलता है। इसके अतीत में एकत्व भी नहीं है। वही भावातीत है। कृष्णभाव के अतीत निर्गुण।

सायुज्य में है एक ही कृपा। स्फुरण में एक कृष्ण हो जाते हैं अनेक कृष्ण। यही एक का बहु होना है। यहाँ केवल सत्त्वगत् भेद होता है। शक्ति सर्वत्र एक ही रहती है। एक कृष्ण (सत्त्वभेद विशिष्ट) और शक्ति ऐक्य विशिष्ट एक = बहुकृष्ण।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ शक्ति का भेद हो जाता है। रूप तथा ज्योति यहाँ एक हैं। एक कृष्ण सत्व और शक्तिभेद विशिष्ट, किन्तु रूप एवं ज्योति के ऐक्यविशिष्ट एक = बहुकृष्ण। यहाँ ज्योति का ऐक्य भी नहीं है। इसलिए ये सभी कृष्णलोकच्युत हैं। ये हैं आत्मविस्तृत जीव। माया में जा पड़े हैं। स्वयं को कृष्णरूप नहीं मानते। इनका उद्धार होना है। क्योकि ये उतर गये हैं। उद्धार का उपाय है कि वे पुनः कृष्णज्योति आदि वापस पा जायें। इसलिए इनको कृष्णज्योति ही देनी होगी। अर्थात् भीतर की सुप्त कृष्णज्योति आदि को ऊपर के कृष्णधाम की जाग्रत् कृष्णज्योति आदि से चेतन कराना होगा। यही दीक्षा है। कृष्णलोक से उतरे हैं। अतएव इनको कृष्णतेज ही चाहिये। रामतेज से इनका काम नहीं बनेगा। उपाय क्या है? कैसे पता चले कि इनमें रामतेज है अथवा कृष्णतेज? सभी ज्योतियों के मूल में है ब्रह्मज्योति। उस ज्योति को उसके आधार में छोड़ने से क्षणमात्र के लिए आवरण हटते ही कृष्णज्योति का उद्भासन होगा। ब्रह्मज्योति विरोधरहित होती है। जिस आधार में जो ज्योति सुप्त है, वह उस ज्योति को जगा देती है। इसी प्रकार से मन्त्र या ज्योति अथवा देवता का निर्णय हो जाता है। उसके अनन्तर कृष्णलोक की ज्योति का संचार करना होगा। यह जाग्रत् है। इसे बाहर से प्रवेश कराना होगा। कितनी? यही एक रहस्य है। सुप्ति की गाढ़ता का विचार अथवा आवरण का मात्र निर्णय करके। उसी मात्रा के अनुसार जाग्रत् तेज संचारणीय है। आवरण मात्रा यदि 3–1/2 कला हो तब कृष्णतेज की मात्रा 3–1/2 कला अथवा ततधिक होना चाहिये। बहुत अधिक न हो, अन्यथा सह्य होना कठिन होगा। कम रहने पर काम नहीं होगा। दीक्षा के समय ही यह हो जाता है। परन्तु स्थूलदेह के अवरोध के कारण शिष्य इसकी उपलब्धि नहीं कर पाता साधना से स्थूल को हटा देने पर वह उपलब्धि कर सकता है। मृत्यु से स्थूल कट जाने पर शिष्य कृष्णलोक तो अवश्य जायेगा, क्योंकि भीतर की सुप्त कृष्णज्योति दीक्षाकाल में जाग्रत् है। साधना करने से ज्योति से रूप आदि का विकास होता है। जो शिष्य साधना नहीं कर पाते और मृत हो जाते हैं, वे देहान्त के अनन्तर कृष्णलोक के बाहरी घेरे में ही रह पाते हैं। साधकगण कृष्णलोक के अन्दर जाते हैं। चरम में कृष्णसत्तामय हो जाते हैं। इसके अनन्तर है ब्रह्मदीक्षा। ज्योति तो जाग्रत् है। साधना होती है उसी ज्योति को लेकर। साधना करते-करते क्रमशः रूप आदि का विकास होता है।

इसी कारण प्रकृत दीक्षा लेने पर तब प्रचलित समाधि का कोई प्रयोजन नहीं है। इस समाधि का प्रयोजन है ज्योति निखारना (ज्योति = प्रज्ञा)। वह तो दीक्षा के समय ही फूट उठती है। अतः समाधि (प्रचलित) निष्प्रयोज्य है। जिसका चित्त अन्तर्मुखीन है, वही इसे देख पाता है।

•

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मार्ग

सूक्ष्म शरीर तीन हैं—प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय। अन्नमय (स्थूलदेह) से सूक्ष्मस्तर में जाने का मार्ग है सुषुम्णा। यह प्राणमय में ले जाता है। मनोमय में ले जाने का मार्ग है वज्रा। विज्ञानमय में ले जाने का मार्ग है चित्रा नाड़ी। आनन्दमय में जाने का मार्ग है ब्रह्मनाड़ी, दिव्यनेत्र। एक साथ बाहर जाने का मार्ग है ब्रह्मरन्ध्र। प्राणमय में जाने का मार्ग है सुषुम्णा घाट द्वारा मूलाधार से मणिपूर चक्र। मनोमय में जाने का मार्ग वज्रा का घाट-अनाहत चक्र। विज्ञानमय का मार्ग चित्रा का घाट आज्ञाचक्र। आनन्दमय का मार्ग ब्रह्मनाड़ी का घाट ब्रह्मरन्ध्र। तदनन्तर है अकुल। आनन्दमय के बाहर नहीं जाया जाता, परन्तु उसके अभिभूत होने से होती है व्याप्ति। यही है ब्रह्म-अन्तर्लीन शिव, शुद्ध चैतन्य।

मिलन

निकुंज में जब राधा-कृष्ण का मिलन होता है, तब कोई उसे नहीं देख पाता। साक्षी अथवा सखी वहाँ नहीं रहतीं। उसी प्रकार मिलन कैसे भंग होता है, कोई नहीं देखता। अर्थात् युगल तत्त्व मूल में एक ही है शिव-शक्ति, राधा-कृष्ण एक ही हैं। फिर भी कैसे एक ही दो हो गया, दो नहीं होकर भी दो जैसा हो गया, यह कोई नहीं जानता। इसके अनन्तर लीला। वही उसका द्रष्टा है, योजक है। वही सखी भी है। अर्थात् राधा-कृष्ण एक हो जाने से सखी अलग नहीं रह जाती। वह भी एक हो जाती है। जब राधा-कृष्ण अलग हैं, तब सखी भी अलग रह जाती है। देहतत्त्व, काम-क्रोध, भक्ति आदि भावसमूह की सत्ता लिंग में खोजकर निकाली जा सकती है। इनके बीज कारणजगत् (कारणदेह) में रहते हैं। हम जो कुछ आहार करते हैं, उसी के रस से ये जीवित रहते हैं। बुरी वृत्तियों में प्रायः पार्थिव एवं जलीय अंश अधिक होता है। ये निम्नस्तर की ओर खींचते हैं। भावों में क्रमानुसार तैजस, वायवीय तथा आकाशीय अंश अधिक रहता है। परन्तु ये सभी पाँचभौतिक हैं। कारण में बीज अतिसूक्ष्म आकार का होता है। लिंग में विभिन्न आकार हैं। यह लिंगाकृति ही देह पर कार्य करती है। यह लिंगाकृति पुष्ट, अर्धपुष्ट, सुपुष्ट आदि हो सकती है। उसके अनुसार वृत्ति का तारतम्य होता है। केवल लिंग में रंग पाया जाता है। स्थूल की ओर स्पष्ट आकार पाया जाता है। लिंग में ही व्यक्त आकार है। (अर्थात् आकार का पूर्वाभास है जो स्पष्टतः स्थूल में दर्शित होता है। लिंग में ही वस्तु का परिचय मिलता है।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खाद्य पदार्थ जितना ही विश्लिष्ट होगा, उतना ही उसका रस अपने-अपने भोक्ता को पुष्ट करेगा। कोई खाद्य कामवृद्धि करता है, कोई क्रोधादि की वृद्धि करता है। यह सत्य कथन है। जैसे वात, पित्त, कफादि की वृद्धि तत्तद् खाद्य से होती है। इसी प्रकार वृत्ति की भी वृद्धि में खाद्य कारण है। काम-क्रोधादि भाव जीवन विशिष्ट अणु के समान हैं। खाद्य के अभाव में सूख जाते हैं। परन्तु मरते नहीं। क्योंकि कारण में उनकी सत्ता रह जाती है। लिंग में बिना खाद्य यहाँ सूखे से पड़े रहते हैं। जैसे मेढक हाईबरनेशन प्रक्रिया में मिट्टी में दबे रहते हैं। परन्तु वर्षा-जल पाते ही पुनः सजीव से हो जाते हैं।

लिंग में आकार दिखलाई पड़ते तो हैं, परन्तु उनको जानने का कौशल होना चाहिये। जैसे काम की एक सत्ता (बीज) है। आकार है। उससे किरण की एक धारा निरन्तर निकलती रहती है। उसमें रंग है। उस रंग की किरण से ही काम को पहचाना जाता है। क्योंकि लिंग अथवा सूक्ष्म का यही क्रम है। स्थूल इन्द्रियगोचर है। लिंग मनोगोचर होता है तथा कारण बुद्धिगोचर होता है। कारण का आभास ही लिंग है। यह आभास ही लिंग है। यह आभास ऐसे ही नहीं रह सकता। सृष्टि के समय कार्य अथवा प्रयोजन साधनार्थ यह आभास प्रकट होता है। इसी से आभास स्थूलभाव ग्रहण करता है। स्थूलावस्था में यह आभास (लिंग) स्थूलभाव से जड़ित रहता है। मृत्यु के बाद यह आभास (लिंग) अलग हो जाता है और स्थूल अलग हो जाता है। तब भी यह आभास साधारण कारण में जब नहीं वापस जाता, तब उस स्थिति में इस लिंग में स्थूल का आवेश आकर प्रतिबिम्ब-सा रह जाता है। जब तक दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण नहीं होता, तब तक पहले के छोड़े हुए शरीर का आकार इसमें लगा रह जाता है। यहाँ तक कि पुनर्जन्म होने पर भी वह आकार एक साथ कुछ न कुछ रह जाता है।

स्मरण में भी यही व्यापार देखा गया है। स्मरणीय वस्तु अंशतः होती है। प्रकाश मन का विषय है। (इसी में आकार भासित होता है।) किस मन का? इन्द्रियों से संश्लिष्ट मन का। इन्द्रिय-वियुक्त मन शुद्धलिंग को ग्रहण कर सकता है, यदि वह लिंग उसमें ग्राह्यरूपेण रहता है। परन्तु ग्राह्यरूपेण वह लिंग बाहर नहीं रह सकता। तब वह कारण में लौट जाता है, क्योंकि बुद्धि का विषय होने से तथा कारणात्म भाव से कारणान्तर्गत प्रत्याकृत (लौटा) शुद्धलिंग शुद्धमन का विषय जो है।

हम जब किसी वस्तु को स्मरण करते हैं, तब वह अशुद्ध मन का ही व्यापार है। स्मृत वस्तु में एक अंश लिंग, दूसरा अंश स्थूलावेश है। स्मृति अथवा चिन्तन तीव्र होने से (भले ही वह दूरस्थ वस्तु का हो अथवा मृत व्यक्ति का हो) एकाग्रवत् होने से, वह प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट देखा जा सकता है, परन्तु वह भी प्रत्यक्ष नहीं, वह भी मन का ही दर्शन है। विक्षिप्तता या क्षिप्तता समाप्त होकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकाग्रता होने से वह रूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। कारण यह है कि मन के एकाग्र होने से ही मन का तेज पुंजीभूत हो जाने पर स्मरणीय वस्तु का लिंगांश अति उज्ज्वल होकर प्रकाशित होता है। भूतांश यथावत् ही रह जाता है। अतः वह दर्शन पूर्णज सब्जेक्टिव ही है। वास्तव में समीप वाला कोई भी उस वस्तु को नहीं देख सकेगा। दूसरा तभी देख सकेगा, जब उस स्मरणीय विषय में भौतिकांश परिपुष्ट हो। यह मात्र एकाग्रताभास से नहीं हो सकता। इसके लिए वास्तविक एकाग्रता चाहिये। एकाग्र मन ही बुद्धि है, क्योंकि एकाग्रता होने से कारण भी उसका अधिगत हो जाता है। कारणभूमि अथवा बीज के आश्रय में ही एकाग्रता होती है।

स्थल = कार्य। उसका जो कारण है, वही है कारण अथवा बीज। केवल लिंग के मामले में कारण अथवा बीज आप्यायित नहीं होता। हो नहीं सकता। बीजमन्त्र अथवा कारण की आराधना इसलिए आवश्यक है। उक्त पूर्वोक्त स्पष्ट प्रत्यक्षवत् दर्शन से भी यथार्थ दर्शन का फल नहीं मिलता। क्योंकि बाह्य दर्शन नहीं है। वह चित्त की एक प्रकार की तन्मयता के कारण बाह्यवत् प्रतीयमान होता है। मन के तीव्र चिन्तन के द्वारा जल का स्मरण करने से, जल का ध्यान करने से जल परिलक्षित भले ही हो जाता है, परन्तु उसे अन्य कोई नहीं देख सकेगा। उस जल से अपनी भी पूर्व में लगी प्यास नहीं बुझेगी। प्यास बुझाने हेतु तो स्थूल जल चाहिये। स्थूल जगत् में अर्थ क्रियाकारी है। इसलिए व्यवहारार्थ स्थूल जल ही सत्य है। जब तक जल के बीज का कारणानुसन्धान करके उसे नहीं पा लेते, तब तक उसके स्थूलाविर्भाव का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह जो बीज है, अथवा जो कारण है, वही है उपादान। इसके न होने से प्रकृत कार्य की आशा दुराशा मात्र है। चिन्ता से (चिन्तन से) प्रसूत जल आभासिक है। उसके एक ओर कारण का आभास अथवा लिंग है, दूसरी ओर भूत का आभास किंवा स्थूल प्रतिबिम्ब है। इस आभास से दो मार्ग मिलते हैं—

प्रथमतः— यदि स्थूल का अंश विदूरित हो, अर्थात् लिंग शुद्ध हो।

द्वितीयतः— यदि स्थूलांश पुष्ट हो, कारण अथवा बीज के आपूरण से।

आभास में भी कारण का अंश है। इसलिए तीव्र चिन्तन के फलस्वरूप भी दीर्घकाल में स्थूल का आपूरण हो सकता है, परन्तु साक्षात् रूप में कारण के आकर्षण से कार्य की सिद्धि क्षिप्रता से होती है। यह चिन्तन का व्यापार है। मन यदि बुद्धि में पर्यवसित हो, तब उसके व्यापार में क्षणमात्र में ही स्थूलभाव की पुष्टि हो सकती है। वह प्रतिभासिक न होकर व्यावहारिक स्थूल होगी। पहले जिस एकाग्र चिन्तन की बात कही गयी है, वह प्रकृत एकाग्रता नहीं है। यदि एकाग्रता नहीं है, तब बिन्दु कहाँ? जब बिन्दु ही नहीं, तब कहाँ कार्य, कहाँ बीज?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धसत्व की प्राप्ति के बिना कार्यसृष्टि का सामर्थ्य नहीं आता। साधारण कल्पना तथा सत्य संकल्प में यही अन्तर है।

कौशल से स्थूल देह से लिंग बाहर हो जाता है, किन्तु कारण की सत्ता स्थूलदेह में ही रह जाती है, अतएव तब योगी मरता नहीं। मरण के समय लिंग के साथ कारण भी चला जाता है। अतः मृत्यु हो जाती है। कारण ही Link है। यदि कारण स्थूलदेह को न छोड़े, तब मृत्यु नहीं होगी। लिंग कोई आकार लेकर बाहर भले ही हो, परन्तु वह उसका वास्तविक आकार नहीं है। वह आगन्तुक आकार है। जैसे बिल्ली का आकार। यदि लिंग बाहर आते समय बिल्ली का ही आकार धारण करे, तब वह बिल्ली की आकृति जैसा होगा, परन्तु यह उसका अपना आकार नहीं है। इस आगन्तुक आकार को हटा देने पर जो आकार रहेगा, वही लिंग का आकार है। स्थूलदेह से सम्बन्ध रहने तक वह आकार रहेगा ही। यही मनोमय देह।

अव्यक्त ही सबका बीज-स्थान है। उसका प्रथम व्यक्त क्षेत्र हो गया कारण-समुद्र अर्थात् सत्वगुण समष्टि। बीज के संयोग से कारणदेह तथा कारणजगत् उद्‌भूत होता है। यही कारणदेह बीज है। द्वितीय क्षेत्र है लिंगज्योति। बीज के योग से लिंगदेह तथा सूक्ष्म जगत् का जन्म होता है। यहाँ लिंगदेह बीज है। तृतीय क्षेत्र है भूताकाश अथवा भूतज्योति। बीज योग से स्थूलदेह सृष्ट होता है। संहार होता है अग्निज्योति से। पृथक्-पृथक् अग्नि है। अग्नि स्थूलदेह में डालने से स्थूल उपादान अलग होता है। लिंगदेह ऊपर चली जाती है। अग्नि को लिंगदेह में डालने से लिंग उपादान अलग हो जाता है। वह ज्योति अथवा चित्ताकाश में बदल जाता है। कारणदेह ऊपर चला जाता है। अग्नि को कारणदेह में छोड़ने से कारण उपादान अलग हो जाता है। (यहाँ जिस अग्नि की बात कही गयी है, वह यह स्थूल अग्नि नहीं है।) अब कारण उपादान अलग होकर कारणवारि अथवा चिदाकाश में परिणत हो जाता है। महाकारणदेह ऊपर चला जाता है।

स्थूल को लिंग से अलग करने पर स्थूल नहीं रह जाता, क्योंकि लिंग ही परमाणुओं को एक आकार विशेष में पकड़े रहता है। परमाणु पृथक् अवश्य हो जाते हैं, तथापि उस आकार का एक संस्कार उसमें रह जाता है। वैसे ही, लिंग भी पृथक् होते ही टूटना प्रारम्भ हो जाता है। लिंग को भी स्थूल से अलग करके पकड़े रहना कठिन है। परन्तु घेरा देकर रोके रखने से वह विराट्‌लिंग में विलीन नहीं हो पाता। सत्व द्वारा घेरा देना होता है। उस लिंग को फिर से स्थूल भूमि में उतारते ही पूर्व की तरह स्थूल वस्तु निर्मित होती है। इसका कारण यह है कि पहले के परमाणु आकर लिंग को पूर्वाकृति में घेर देते हैं। लेकिन लिंग स्थूल से दीर्घस्थायी है। कोई भी स्थूल जब नहीं रहता, तब बहुत से लिंग रहते हैं। लिंग की तुलना में कारण दीर्घस्थायी है। लिंग के न रहने पर भी कारण रह जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब जीवलिंग के सम्बन्ध में भी जानना आवश्यक है। जीवलिंग ही शिवलिंग हो जाता है। लिंग-निर्माण की प्रक्रिया क्या है? बीच में नाड़ी पथ के एक ओर से धक्का देकर पथ में ऊपर की ओर संचार करता है। ऊपर की ओर से भी धक्का उतर आता है। फलतः दो ओर के दबाव से मध्य का संचरणशील तेज अण्डाकार हो जाता है। दोनों किनारे फूल जाते हैं। यही है लिंग। जीवलिंग के लय में जैसे जीव रहता है, शिवलिंग के लय में वैसे ही शिव रहते हैं। जीव का चिह्न है जीवलिंग। वैसे ही शिव का चिह्न है शिवलिंग। लिंग अव्यक्त रहता है, तब जीव को पहचाना नहीं जाता। ऐसे ही अव्यक्त लिंगभेद होने पर शिव को भी पहचाना नहीं जा सकता। मूलाधार भेदन से शिवलिंग आविर्भूत होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आकाश

आकाश असीम है, लेकिन पेड़ बढ़कर कहीं पर रुक जाता है। रुक जाने का कारण पेड़ में ही है। अनन्तकाल पर्यन्त बढ़ने पर भी रुकावट पाने की कोई सम्भावना नहीं है, आकाश इतना अनन्त एवं अबाधक है, तथापि बढ़ना तो सीमा से बँधा है। जब बीज में जो बढ़ने की ताकत है, वह वृक्ष बनने में सबकी सब खर्च हो जाती है। तब वह और ऊँचा भले ही नहीं बढ़ता, परन्तु अन्यशक्ति तब भी रहती है, जिससे उसका विकास होता रहता है। जीव भी सीमा में है। इसलिए एक स्थान पर जाकर और बढ़ना सम्भव नहीं होता। वह वहीं से, जहाँ है—वहीं से अनन्त से युक्त हो सकता है। जिसकी जहाँ सीमा है, उसकी उस सीमा के अन्त में ही असीम खड़ा है। असीम वास्तविक एवं व्यापक है, सीमा कल्पित है। कल्पना, बोधादि सभी सीमाबद्ध।

बोध भी असीम में डुबकी लगाकर आनन्द पाता है। अब उसे असीम का आनन्द मिलता है। असीम में जाकर बोध खोना अथवा बोध खोकर असीम में जाना! निर्वाण अच्छा नहीं है। द्वैताद्वैत ही मधुर है। सीमाबद्ध होकर असीम में जाकर सीमा खो देना, पुनः किनारे आना—यह द्वैताद्वैत है। पराभक्ति है। असीम को स्पर्श न करना (अर्थात् द्वैत) जिस प्रकार उचित नहीं है, द्वैत को स्पर्श न करना भी उतना ही अनुचित है।

समस्त जगत् वायु में उतरा रहा है। सारे दृश्य भी वायु में ही उतरा रहे हैं। व्यवधान, गुरुत्व, भिन्नता इसके फल हैं। जब आकाश-दर्शन होगा, तब पता चलेगा कि समग्र बाह्य जगत् आकाश में ही तैर रहा है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। वायु में देखने से ओट रहती है, आकाश में देखने के लिए ओट या आवरण नहीं है। वायु देखना=इन्द्रियों से देखना। वायु को निष्कम्प करके आकाश में देखने से एकस्थ समग्र विश्व प्रतिच्छवित होने लगता है। यही है विश्वरूप दर्शन। अब इन्द्रियाँ नहीं रहतीं। अर्थात् इन्द्रियाँ मन में अनुप्रविष्ट हैं। समस्त जगत् परछाईं के समान परिलक्षित होता है। प्रतिबिम्ब ठीक बिम्ब जैसा है, परन्तु गुरुत्व आदि, व्यवधान आदि से वर्जित, यह भी वैसा ही है। तब समझ में आता है कि जगत् आकाश का ही विवर्त्त है। आकाश से ही उठता है, आकाश में ही रहता है और आकाश में मिल जाता है। यह आकाश मूलभूत है।

यह दर्शन द्विविध है। सकाम तथा निष्काम। निष्काम दर्शन में आकाश में समग्र जगत् देखा जाता है। वह आकाश से अभिन्न होती है। आकाश एक तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविभक्त है। जगत् भी एक तथा अविभक्त-सा दिखलाई पड़ता है। मानों वह भी आकाश ही हो। विभक्त रूप से देखने से समग्र दर्शन नहीं हो सकेगा। अतएव समग्र जगत् को देखने का अर्थ है विशुद्ध आकाश को देखना या एक निर्मल दर्पण को देखने जैसा। यह जगत् का प्रकृत दर्शन है। किसी विशिष्ट वस्तु को देखने से भी कामना तथा इच्छा होना आवश्यक है। यह सकाम दर्शन है। यह आकाश कामना के प्रभाव से इष्ट पदार्थ के रूप में विकार अथवा विवर्त्त को जन्म देता है।

आकाश-दर्शन करके, आकाश होकर, जो भी इच्छा हो, वही आविर्भूत होना निश्चित है। ऐसा ही एक आकाश है जिसे चित्त कहते हैं। यह भी एक प्रकार से दर्पणवत् है। यहाँ भी सकाम-निष्काम दर्शन होता है। निष्काम भाव से देखने पर यह मानों दर्पणवत् ही प्रतिच्छवित होता है। यही है कॉस्मिक माइण्ड (विश्वचित्त)। यह समष्टि लिंग भी है। इस आकाश में सभी चित्त देखे जाते हैं। अपना चित्त भी देखा जा सकता है। इस चित्ताकाश का दर्शन करके इच्छानुरूप आविर्भाव भी हो जाता है। जब समष्टिरूपेण सभी चिन्ता का दर्शन होता है, तब वह अविभक्त रूप है। केवल चित्ताकाश रूप में यह दर्शन है। जब किसी एक विशिष्ट चित्तदर्शन की इच्छा होती है, तब वही विशेष चित्त आविर्भूत हो जाता है।

यहाँ एक विचित्रता अवश्य है। बाह्य आकाश में जिस भाव तथा सत्ता का उदय होता है, वह देशमूलक है। (देश = स्पेस)। अन्तराकाश अथवा चित्ताकाश में जिस भाव अथवा सत्ता का उदय होता है, वह है कालमूलक (काल = टाइम)। बाह्याकाश में जो गुलाब का फूल आविर्भूत होता है, उस फूल के अवयव यौग-पद्य विशिष्ट होकर एक साथ विन्यस्त होते हैं। यही देश है। यदि अन्तराकाश में वह फूल खिलता है, तो उसके अवयव एक के पश्चात् एक, in succession प्रकाशित होते हैं। यही है काल। अन्तराकाश में जो कुछ लक्षित होता है, वह सब चित्त का—चित्ताकाश का विकार है। अर्थात् चिन्तन स्वरूप है। यह एक-एक करके प्रकाशित होता है। चिन्ता की जो यह एक-एक पूर्वापर विन्यस्त धारा है अर्थात् कालिक धारा है, इसी को एक-एक चित्त कहते हैं। अन्तराकाश का यह गुलाब भी चित्त का विकार है। बाह्याकाश में यह अवश्यमेव पंच महाभूतों का विकार है। भूतसृष्टि के मूल में भी एक दृष्टिभ्रम है। जैसे अलातचक्र = गोलाकार आलोक। लेकिन यह है नहीं। आलोकबिन्दु अवश्य है, तथापि वह गोल घुमाये जाने के कारण गोलाकृति दिखाई दे रहा है। एक ही बिन्दु भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित है। किन्तु क्रम का लक्ष्य नहीं होने के कारण यौगपद्य का भ्रम होता है। इसी कारण अलातचक्र गोल दिखता है। सभी आकार ऐसे ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। स्थूलदर्शी जीव में यदि वह गति भी दो दिन पर्यन्त रहे, तब दो दिन तक यह गोलाकृति रहेगी।

स्थूलदर्शी जीव के नेत्रों में क्रम का निरोधात्मक आवरण रहता है। अतः आकार स्थायी प्रतीत होते हैं। क्रम है, काल है, प्रवाह या गति है। यह सब कालिक है। अर्थात् क्षणिक विज्ञानधारा। क्षणिक प्रवाह के आच्छन्न होने से ही ज्ञान ज्ञेयरूपेण प्रतिभात होने लगते हैं। अनेक आकार में दिखलाई देता है।

चित्ताकाशरूप बिन्दु क्षुब्ध होकर अणु (Minimum विज्ञान) रूप से प्रवाहित होता है। भूताकाशरूपी बिन्दु क्षुब्ध होकर अणु (Minimum ज्ञेय) रूपेण प्रवाहित होता है। विक्षुब्ध चित्कला जहाँ बाहर घनीभूत रूप से जमा है, वही है भूताकाश-रूपी बिन्दु। इस जमनें के मूल में क्रम-तिरोधायक आवरण है। यह अज्ञान का देश है। क्रमभावी क्षण कभी वस्तुतः समष्टिभूत नहीं होता। अतएव भूतबिन्दु का आविर्भाव केवल भ्रम है। इसी क्रम को अपना कर भूतों से भौतिक जगत् तैयार होता है।

भौतिक जगत् का पहला आवरण हटते ही देखा जाता है कि क्षणधारा अथवा कालस्रोत तीव्रता से चल रहा है। यही है ज्ञानधारा। अन्तराकाश में सम्भवतः 5 पथ हैं। अतः ज्ञानधारा 5 पथों से चलती है। ये 5 प्रकार के क्षणविज्ञान या पंचतन्मात्र हैं। शब्दधारा मूल अथवा मध्य है। चार धारायें ही चतुर्दिक् हैं। इसके मूल में एक ही धारा है। वही है वास्तविक क्षण-विज्ञानधारा। यहाँ रूपज्ञान अथवा रसज्ञान नहीं है, तथापि ज्ञान है। बाह्याकाश में भी ऐसा ही है। आकाश मध्य है। चारो भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) चतुर्दिक् हैं। आकाश के ऊपर 'एक' है। यही है यथार्थ ज्ञेय। चिदाकाशरूपी बिन्दु क्षुब्ध होकर चित्कलारूपेण प्रसूत होता है। क्षुब्ध चित्कला की समष्टि ही है चित्ताकाशरूपी बिन्दु। इस समष्टि के मूल में क्रमविर्भावक एक आवरण है, जिसे ज्ञानशक्ति अथवा काल है। अनन्त प्रसूत चित्कला में काल के सम्बन्धवश बिन्दुभाव होने के कारण विराट्चित्त का उद्भव होता है। वह क्षण प्रवाही है।

साधारण मनुष्य स्थूल देहयुक्त होता है। उसकी दृष्टि भौतिक आकाश में निविष्ट होती है। वह भौतिक रूप इन्द्रियों से देखता है। जब वह आँखों को बन्द करता है, तब अन्धकार ही देख पाता है।

स्थूलदेहाभिमान विहीन होने से उसकी दृष्टि बौद्ध आकाश (चित्ताकाश) में निविष्ट होती है। वह बौद्धरूप अथवा प्रतिबिम्बित रूप को देख पाता है। उस समय उसकी बुद्धि में अहं-प्रतीति होती है। आँखें बन्द करने से आलोक-दर्शन होता है। दिखता है बुद्धि के द्वारा। बुद्धिरूपी इस परदे के हट जाने पर उसकी दृष्टि चित्ताकाश में निविष्ट होती है। वह स्वरूपदर्शन करता है। उस समय उसकी अहं प्रतीति आत्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में रहती है। आँखें बन्द करने से अब पहले की तरह अन्धकार नहीं देखता। आत्मा के आलोक का, आत्मा का दर्शन करता है। देखता है चित्शक्ति से।

आत्म-साक्षात्कार के समय द्रष्टा कुछ भी नहीं देखता। मात्र स्वयं को देखता है। जो प्रभा आकाश के रूप में उसको घेरे रहती है, मात्र उसे ही देखता है। उस प्रभा में जागतिक वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। यदि पड़ता है, तब वस्तुतः आत्मदर्शन नहीं हो सका। जब वास्तविक आत्मदर्शन होता है, तब आत्माकाश में भगवान् प्रकट होते हैं भक्ति की महिमा से। तब उनको ही देखा जाता है। यह आत्माकाश है हृदय। इस हृदय का शोधन होता है कुण्डलिनी जागरण से। इस हृदयाकाश में ही ज्योति का उत्स (Source) है। वही हैं इष्ट देवता अथवा देवता। उनकी अंगद्युति ही अन्तराकाश का आलोक है। यह आकाश ही चित्ताकाश है। यह ज्योति ही चित्तज्योति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रिया

जिसकी जैसी भावना है, उसकी सिद्धि अथवा प्राप्ति तदनुरूप होती है। साधना अथवा क्रिया का फल है सिद्धि। यह कैसी है? भावनानुरूप है। भावना क्रिया नहीं है। वह है संकल्प, इच्छा अथवा रंजित ज्ञानरूप। क्रिया करने से किधर अग्रसर होना है? पूर्ण की ओर। किन्तु पूर्ण को पूर्णरूप में नहीं पाता। इसका कारण है भावना। जैसी भावना होती है, पूर्ण को उसी प्रकार पाया जाता है। वास्तव में प्राप्ति क्रिया का फल है और प्राप्ति का प्रकार भावना का फल। भावनाहीन क्रिया और क्रियाहीन भावना का फल कैसा है? यदि वस्तुतः भावनाहीन क्रिया हो, तब वह स्वभाव की क्रिया है। क्रिया का फल है विशुद्ध प्राप्ति, प्रकारहीन प्राप्ति। वही अनन्त फलस्वरूप है अथवा वह प्राप्ति ही नहीं है। प्राप्ति-अप्राप्ति का प्रश्न वहाँ नहीं है। वह स्वभाव है। इस अवस्था में जो क्रिया है, वह भावनाहीन है। वह भावनापूर्वक नहीं है। यही विशुद्ध क्रिया अथवा विशुद्ध प्राप्ति अथवा प्रकारहीन सिद्धि है। यही है निष्काम कर्म। योगस्थ होकर कृतकर्म-स्वभावकर्म।

साधारण अवस्था में भावनाहीन क्रिया नहीं होती। भावना शून्य होने पर भी मूल में भावना रहती है। गुरुपदिष्ट क्रिया यदि किसी फल की कामना बिना ही क्यों न की जाये, केवल कर्त्तव्य की दृष्टि से की जाये, फिर भी वह भावनाहीन नहीं है। उसके मूल में गुरु की भावना विद्यमान जो है। शिष्य न भी जाने, तथापि फल की प्राप्ति उस भावना से रंजित होने को विवश है। किसी अन्ध को यदि किसी निर्दिष्ट मार्ग पर खड़ा करके सामने की किसी निर्दिष्ट वस्तु की ओर करके छोड़ दिया जाये और चलने को कहा जाये, तो चलने के कारण वह अन्ध आगे बढ़ेगा। जहाँ गति समाप्त होगी, वहीं उस वस्तु को वह पा जायेगा। यद्यपि वह वस्तु उसके लक्ष्य का विषय नहीं थी, फिर भी उसे प्राप्ति हो गयी। क्योंकि वह चालक का लक्ष्य था और लक्ष्य के अभिमुख करके ही उसे चलने को कहा गया।

क्रियाहीन भावना यह साधारण अवस्था की बात नहीं है। क्रियाहीन शुद्ध भावना से सिद्धि नहीं होती। क्योंकि क्रिया के बिना व्यवधान दूर करने का कोई उपाय नहीं है। साध्य-साधक का व्यवधान क्रिया से ही होता है। साध्य = स्वभाव अथवा पूर्ण, जिसे प्राप्त करने का उपाय क्रिया है। विशिष्ट साध्य को प्राप्त करने के लिए क्रिया नहीं, भावना आवश्यक है किन्तु साध्य-सामान्य प्राप्त होने पर ही साध्य विशेष को पाया जा सकेगा। साध्य-सामान्य पाना ही विशुद्ध क्रिया का फल तथा क्रियाज्ञान है। सामान्य में विशेष का उद्घाटन भावना का फल है। विशुद्ध क्रिया तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साध्य सामान्य की प्राप्ति एक ही बात है। इसे फल कहना, न कहना बराबर है। यह नित्य प्राप्ति है। जैसा नित्यचक्र है अर्थात् क्रिया भी चलती है, फल का भी स्फुरण हो रहा है। यही ज्ञान अथवा चैतन्य भी है।

क्रिया करते-करते तेज क्रमशः ऊपर उठ रहा है, लेकिन परदे का लंघन नहीं कर पाता। क्रमशः जमा होते रहता है। जमा होते-होते एक समय ऐसा आता है कि परदा हठात् फट जाता है। यही प्रकृत अवस्था है। उसके तत्काल बाद ही द्वार फिर बन्द हो जाता है। फिर इस पार, उस पार का भेद अलग हो जाता है। ऊपर उठने से पुनः उतरता नहीं है। बीच का पर्दा सदा रहता है। (जब नहीं रहता, तब सर्वदा अभेद रहता है। जड़ चेतन का भेद भी लुप्त हो जाता है, आत्मा विभुरूपेण साक्षात्कृत होती है) लेकिन ढीला भी हो जाता है। क्रिया से तेजराशि जितनी ऊपर उठती है, द्वार खुलने का समय उतना ही निकट आता-जाता है।

क्रिया तथा उपरम दोनों आवश्यक है। क्रिया से तेज संग्रहीत होता है। जिसका तेज जितना अधिक होता है, एकाग्रता उतनी ही सहज होती है। क्रिया करके बैठ जाने से ही स्थिरता आयेगी। क्योंकि वह तेजोराशि घनीभूत होकर एक होती है, तब ऊपर उठती है। यही एकाग्रता लाती है। जिसका बिन्दुक्षय नहीं हुआ है, ब्रह्मचर्य अच्छा है अथवा उपादान अधिक और शुद्ध है, उसकी एकाग्रता सहज है। उसे अधिक क्रिया की आवश्यकता नहीं है। क्रिया का प्रथम व्यापार है शुद्ध तेज का आकर्षण। द्वितीय व्यापार है अशुद्ध तेज का शोधन। जिसका ब्रह्मचर्य अच्छा है, उसके तेज का शोधन करना ही क्रिया का उद्देश्य है। साधारण के लिए तेज का आकर्षण करना ही लक्ष्य है। देह में सात्विक तेज कम होने से चंचलता, लय, तन्द्रा का प्रभाव होता है। वह जगा नहीं रहता। अज्ञान से अभिभूत हो जाता है। स्थूल का भाव ही सूक्ष्म में संचरित होता है। सूक्ष्म से स्थूल में जाता है। पहले सूक्ष्म में अथवा पहले स्थूल में ही क्यों होता है, इसे नहीं कहा जा सकता। दोनों के मूल में भगवान् की प्रेरणा ही है। पहले सूक्ष्म जब आता है, तब उसे पूर्ण की कृपा कहते हैं। इसके कारण स्थूल में पुरुषकार आविर्भूत होता है। पूर्ण में कृपा तथा पुरुषकार में कोई भेद नहीं है। परन्तु कृपा स्वतन्त्र रूप से आती है। इधर स्थिति है, उधर क्रिया है। बीच में है इच्छा। जिस क्रिया के मूल में इच्छा नहीं है और उसके साथ स्थिति का विरोध नहीं है, वही लीला है।

क्रिया की कुछ अवस्थाओं पर भी दृष्टि निःक्षेप आवश्यक है। सकाम कर्त्ता की क्रिया में क्रिया हो रही है। कर्त्ता मैं हूँ। फल का भोक्ता भी मैं हूँ। ज्ञानी कर्त्ता की क्रिया में क्रिया हो रही है। द्रष्टा मैं, फल नहीं। भोक्ता भी नहीं। वह सब दृश्य है। भक्त में क्रिया हो रही है। द्रष्टा मैं नहीं। फल का भोक्ता भी मैं नहीं। फल नहीं। आनन्द का आस्वादन-रूपी भोग है। उनका दिया हुआ है। पूर्ण की क्रिया में क्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो रही है। मैं द्रष्टा नहीं, फल का भोक्ता भी नहीं। कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं। आनन्द है, परन्तु उसका आस्वादन नहीं। स्वभाव मात्र है।

परमपद से स्फुरण हो रहा है। स्वभावतः। यह स्वभाव ही है उनका स्वातन्त्र्य। इसमें विराम कहाँ? एक ओर से निकल रहा है, दूसरी ओर से उसमें जा रहा है। यह निरन्तर चल रहा है। परमपद है उसका द्रष्टा है। उनमें इच्छा नहीं है। जो निकल रहा है, वह दो भाग में विभाजित होता जाता है। एक ओर इच्छा ज्ञान-क्रियारूप शब्द है। दूसरी ओर अर्थ। पहला है प्रकृति, दूसरा है पुरुष।

परमपद कल्पनाहीन है, परन्तु वहाँ से बराबर कल्पना उठती है। विकल्प उठता है। उठते ही वहाँ रुक नहीं सकता, क्योंकि वहाँ टिकने का उपाय नहीं है। यही अनिच्छा की इच्छा है, निर्विकल्प की कल्पना तथा निष्काम का काम है। नीचे जो उसे सत्य मानकर ग्रहण करता है, वह उससे मुग्ध हो जाता है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtlon by eGangotri

प्रलय-मृत्यु

प्रलय अर्थात् ज्ञाननाश, देहनाश। दैनन्दिन प्रलय अर्थात् मृत्यु। इससे ज्ञान तथा देह नष्ट होता है। इसे काट पाने पर जो आलोक मिलता है, वह कल्पस्थायी है। यदि कोई जीवितावस्था में उस कल्प-तेज को पा ले, तब वह कल्पजीवी होगा दिव्यभाव प्राप्त करेगा। इसमें भी क्रम है। कल्प-प्रलय ही परमावधि है। इस तेज के अपर तथा पर रूपी दो अंश हैं। एक से देह को अविच्छिन्न रखते हैं। परन्तु ज्ञान को नहीं रखा जा सकता। परन्तु 'पर' द्वारा ज्ञान को भी अविच्छिन्न रखा जा सकता है। जो अपर तेज पाता है, वह ज्ञानहीन है, परन्तु देह नहीं खोता। यह एक प्रकार का प्रकृतिलय भी है। परन्तु जिसे परतेज मिलता है, वह देह नहीं खोता, ज्ञान भी नहीं खोता। यह प्रकृति से मुक्ति है। इसी से गति तथा स्थिति में भेद हो जाता है। पूर्ण मात्रा में इन्द्रत्व है। कल्पान्त तक स्थिति है। पूर्ण मात्रा का त्रिलोक में जो सत्व है, उसकी समष्टि तथा सारतम अंश ही है पूर्णसत्व। इस सत्व (सोम) की कई कलायें हैं। परम के अनन्तर विशुद्ध, शुद्ध, महाकल्प एवं कल्प। परम से कल्पदर्शन होता है। विशुद्ध से प्रकृति लीन हो जाती है। केवल चेतना रह जाती है। शुद्ध में ब्रह्मा की मृत्यु देखी जाती है। ब्रह्माण्डलय देखा जाता है। ब्रह्मा यह तेज पाते हैं। जो जीवितावस्था में इसे पा लेते हैं, वे ब्रह्मा से भी ऊपर हैं। इस आलोक में यह देखा जाता है कि समस्त विकार प्रकृति में लीन हैं। ब्रह्माण्ड भग्न हो गया। केवल प्रकृति शेष है। इसमें कालभेद नहीं है। क्योंकि क्रिया नहीं है। केवल स्पन्द है जो नित्य है।

महाकल्प में कल्पान्त प्रलय, त्रिलोकीनाश देखा जाता है। इस आलोक को पाकर जीव ब्रह्मदेह पाता है। ब्रह्मा जैसा हो जाता है। इसके दो भाग हैं। एक में जन, तप, सत्यलोक है। दूसरे में महर्लोक। त्रिलोकी नाशोपरान्त महर्लोक ज्ञानशून्य रहता है। ऊपर के जन, तप, सत्य लोक जगे रहते हैं। वास्तव में ऊर्ध्व तीन लोक ही पुरुष के ऊर्ध्व तीन अंग हैं। त्रिवर्ण हैं। महर्लोक क्षुद्र ज्ञानहीन होने पर भी ब्रह्मा की देह है। इस महाकल्प लोक में दिन-रात का भेद नहीं है। सदैव प्रकाश है। किन्तु काल-भेद है। व्युत्थान-निरोध। क्रियायुक्त तथा क्रियाहीन दशा।

कल्प द्वारा दैनन्दिन या नित्यप्रलय या मृत्यु (व्यष्टि मृत्यु) देखी जाती है। वही ब्रह्मा का दिनगत् प्रकाश है। यह तेज मिलने से अमरत्व मिलता है। व्यष्टिमृत्यु कट जाती है।

व्यष्टिमृत्यु एक भयानक आघात है। उस आघात से स्थूलदेह का पात होता है। लिंग से स्थूल का योग टूट जाता है। मृत्यु अर्थात् अज्ञान। महामृत्यु और भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भयानक आघात है। उससे लिंग से सूक्ष्म का योग टूट जाता है। महामृत्यु = ज्ञान। परन्तु एक बात है। स्थूलत्याग होता है, परन्तु लिंग में स्थूलाभास रहता है। इसलिए पुनः स्थूलावतरण होता है। यह ज्ञान से कटता है। इस प्रकार लिंगत्याग होने पर भी सूक्ष्म में भी लिंगाभास रहता है। इसलिए पुनः सूक्ष्म लिंग में उतरने की आशंका रह जाती है। सूक्ष्मावस्था में ज्ञान पूर्णमात्रा में ही रहता है, परन्तु उससे लिंगनिवृत्ति नहीं होती। यह लिंगभास भक्ति के बिना नहीं जाता। अतः भक्ति से ही आत्मा सूक्ष्मलिंग-वर्जित हो सकती है। उस अवस्था में सूक्ष्म विशुद्ध है। लिंग के रहने के कारण प्रयोजन रहता है। अभाव रहता है। ज्ञान से भी अभाव नहीं मिटता।

अब प्रश्न उठता है अकाल मृत्यु है अथवा नहीं? कालमृत्यु क्या है? मृत्यु का बीज व्यक्ति के साथ है। जरा बीज भी है। मात्र इनको प्रकाश काल की अवस्था रहती है। स्वभाव के नियमानुसार जब प्रकाशकाल आयेगा तब जरा-मृत्यु भी होगी। लेकिन यदि बाहर के सजातीय परमाणु अनुप्रविष्ट कराकर उसके प्राकट्य का सम्पादन कर दिया जाय अथवा उस अनुप्रवेश से उसका प्राकट्य हो जाये, तब जब यह होगा तभी जरा होगी, मृत्यु भी होगी। यह अकालमृत्यु अथवा अकालजरा है।

यदि बालपन में मृत्यु हो और वह यदि कालमृत्यु हो, तब यह स्पष्ट है कि उसमें जराबीज नहीं था। समझना होगा कि ऐसे बालक देवलोक से आये हैं। 'जिन्हें ईश्वर चाहता है, वे कम उम्र में मर जाते हैं' इसका तात्पर्य यही है। कालमृत्यु, अकालमृत्यु को समझना कठिन है। ऐसा भी हो सकता है कि मृत्युबीज को प्रकाशकाल नहीं पाने दिया जा रहा है। परन्तु जरा का बीज प्रकाशकाल पा रहा है। ऐसी अवस्था में बड़ा ही लम्बा जीवन होगा। पर शरीर जीर्ण होगा। परन्तु जरा के बीज को भी स्तब्ध कर देने पर देह जीर्ण नहीं होगा। यदि अकाल में जरा हो सकती है, तब कर्मकौशल से अकाल में तारुण्य भी हो सकता है। अर्थात् जरा जीर्ण को भी तरुण कर सकते हैं। उसी प्रकार मृत्यु से भी बचा सकते हैं।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन

श्वास-प्रश्वास की ओर लक्ष्य रहने से क्रमशः मन लीन हो जाता है। ज्ञान के सहयोग से मन तथा प्राण स्थिति-बिन्दु में जाते हैं। श्वास के अन्त में स्थिति-बिन्दु और प्रश्वास के अन्त में स्थिति-बिन्दु। ज्ञान और मन के उस बिन्दु में जाने पर असीम उसे खींचता है। अपना अंश कुछ बाहर करके ले जाता है। कई बार ऐसा करने से मन का उपादान असीम में बिखर जाता है। यही मन का लय है। और फिर जब मन का अंश असीम में सिमट जाता है, तब घनीभूत होकर अलग सत्ता लाभ करता है। मूल प्रकृति का ब्रह्मतेज पड़ते ही विक्षोभ होता है। सत्यकण उस तेज को धारण करते हैं। इस ब्रह्मतेज के स्पर्श से सुप्त जीव जाग जाता है।

शब्द की अवस्था क्रियावस्था है। कुण्डलिनी जागरण के अनन्तर इस अवस्था का प्रारम्भ होता है। इस शक्ति का जागरण ही चेतन शब्द की क्रिया अथवा शुद्धसत्व की क्रिया अथवा बिन्दु का कार्य है। जाग्रत् चेतनशक्ति को ही विशुद्ध सत्व कहते हैं। जीव मलिन सत्व होकर त्रिगुण में विचरण कर रहा है। जन्म-जन्मान्तर से इसी क्षेत्र में है। शुद्ध धाम में जाने का उपाय ही नहीं है। जब वह शुद्ध धाम से तेज प्राप्त करता है, तब उसकी शुद्ध सुप्तशक्ति प्रबुद्ध होती है। यह जागरण क्रमशः स्पष्ट होता रहता है। इस अवस्था में अनाहत ध्वनि (नाद) श्रुतिगोचर होने लगती है। फलतः मन की शुद्धि तथा चांचल्य निवारण होता है। वासना क्षयीभूत होने लगती है। क्रमशः मन शुद्ध होने पर विषय का प्रभाव इन्द्रियों पर से हटने लगता है। एकाग्रता की स्थिति में मनःस्थैर्य का सम्पादन प्रतीत होता है। मन इन्द्रिय तथा विषय की पकड़ से अब मुक्त है। अब एक विराट् ज्योति (चैतन्य) का स्फुरण होता है। अब मन शुद्ध है, वह चैतन्य में लयीभूत नहीं होता।

यह आत्मदर्शनावस्था है। तब भी मन है, परन्तु शुद्ध है। तदनन्तर आत्मा से इन्द्रियवियुक्त मन का योग बढ़ता जाता है। फल है आनन्द का विकास, मन का विकास। यह विशाल विकसित मन ही विराट्शक्ति है। यही पूर्ण आत्मदर्शन तथा पूर्णतम योगावस्था है। आत्मा की इस शुद्ध अवस्था में आनन्दास्वाद भी पूर्ण है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य भी है। यहीं से समस्त सांसारिक व्यापार होते हैं (सृष्टि आदि) इस प्रकार से यह मिलन भी भोगविशेष है। तथापि शुद्धतम भोग है। इसलिए यह संसार की शिरोभूमि है। किन्तु शिव-शक्ति की पृष्ठभूमि से एक अभिनव वस्तु का आभास मिलता है। वह है ब्रह्म। यह है ब्रह्मरूप आत्मदर्शन।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन जब निश्चल अवस्थित लगे, तब वह शुद्ध हो गया। नाद-श्रवण से यही होता है। यह क्रिया की शेष स्थिति है। तब ज्योति का उदय, चैतन्य का विकास हो चुका है। मन निरुद्ध न होकर भी स्थिर है। यही ज्ञान अथवा ब्रह्म है। मन है, तभी ज्ञान है। यहाँ दो गति सम्भव हो जाती है। प्रथमतः क्रमशः कृष्णपक्ष के चन्द्र के समान क्षीण होते-होते मन की अव्यंक्तता। ज्ञानकैवल्य, निर्वाण। यह लय है। द्वितीयतः मन को लीन न करके उससे काम लेना। यह है इच्छा का विकास। इसके फल से वह ज्योति (ब्रह्ममूर्ति) इच्छानुरूप—इष्टरूपेण प्रकट होती है। यह आत्मवत् है। मूर्ति निखर जाने पर ज्योति नहीं रहती। अब होता है प्रेम का प्रस्फुटन। समान-समान होने पर ही प्रेम प्रस्फुटित होता है। अब मन लय की सम्भावना नहीं है। अब मन अलग होकर तटस्थ है। इसके अनन्तर साधना है ही नहीं। मैं-तुम के मध्य प्रेम! मात्र कृपावर्षण शेष है। कृपा होती है, तब मैं-तुम एक हैं। वही है पूर्णत्व, पूर्ण 'मैं'।

पहले से ही मन का लय कर देने अथवा उसे सुप्त कर देने से क्या होगा? पहले मन से क्रिया को निकाल देना होगा। तब मन स्थिर और शुद्ध होगा। तदनन्तर उस मन से ज्ञान को निकाल देना होगा। अब मन और शुद्ध है। तदनन्तर उस मन से इच्छा को निकालो। अब तो मन अत्यन्त शुद्ध है। तब उसमें शुद्ध प्रेम ही आयेगा। क्रमशः यह प्रेम गाढ़तर होता जायेगा। जब तक कृपा नहीं हो जाती, तब तक यह है। कृपा होने से ही 'मैं' पूर्णतः प्रतिबिम्बित हो गया। अब मन अलग है। क्रिया-ज्ञान-इच्छा-प्रेम 'मैं' में शक्तिरूपेण स्थित है।

साधारणतः देखा जाता है कि श्वास-प्रश्वास की गति के प्रति हमारा ध्यान नहीं रहता। लेकिन ध्यान रखने का अभ्यास किया जाता है। उस समय प्राण से मन का योग होने लगता है। यह योग बीच-बीच में भंग भी हो जाता है। अभ्यास की दृढ़ता से एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जबकि वह योग नहीं टूटता। तभी ठीक से साक्षी-अवस्था का एक आभास मिलता है। उस आभास के साथ ही साथ अन्तराकाश में प्रकाश खुलता रहता है। साथ-साथ प्राण-अपान बराबर हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास मन्द होते-होते बन्द हो जाता है। अभी आँखें बन्द करने पर अन्धकार परिलक्षित होता है, परन्तु तब वह प्रकाशमान हो जाता है।

श्वास-प्रश्वास में मन रखने से क्या होता है? मन-प्राण में ऐक्य होता है। प्राण की अन्त में स्थिति है, अपान की भी अन्त में स्थिति है। अर्थात् प्राण-अपान की सन्धि ही शून्य है। स्थितिरूप है। मन जब प्राण के साथ चलता है, तब वह प्रत्येक क्षण में, श्वास-प्रश्वास में उसी शून्य का स्पर्श करेगा। साधारणतः श्वास-प्रश्वास चुपचाप चलता है, क्योंकि मन विषयों में है। व्यक्ति प्राण के चलने को लक्ष्य नहीं करता। किन्तु जब मन प्राण का अनुगामी है, तब प्राण की क्रिया कांशसली (जागृतिपूर्ण) होती है। यह निरन्तर होती है। उस शून्य को छूकर मन भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शून्य होने लगता है। शुद्ध-सूक्ष्म हो जाता है। मन का आवरण उच्छिन्न हो जाने से कर्तृव्य भी नहीं रहता।

केवल मन का निरोध हो जाना ही यथेष्ट नहीं है। यह तो जड़ समाधि है। मन अभी स्थूलभावापन्न तथा विक्षिप्त भी है। उसे कितना भी समेट लो, वह स्थूल ही रहेगा। उसे सूक्ष्म करके वासनारहित बनाना है। इन्द्रियों के मार्ग से मन बाहर बिखर जाता है तथापि उसे संयत करके लाया जा सकता है। तब इन्द्रियों का काम नहीं होता। विषयों का ज्ञान नहीं रहता। संकल्प के समय केवल संकल्पित विषय ही जागता है। मन के लिए इस प्रकार इष्ट वस्तु का दर्शन करना सम्भव है। एक विराट् चैतन्य जगत् में तैर रहा है। उस बोध में प्रयोजनानुसार इष्ट वस्तु भी तैर रही है। वही इष्टाकृति हो जाती है। मन की स्थिरता से प्राण भी स्थिर हो जाता है, यह सत्य है, परन्तु वह यथास्थान नहीं जा पाता। इसी कारण इष्ट वस्तु या इष्ट स्थान का यथायथ दर्शन हो जाने पर भी वहाँ, उस स्थान पर जा सकना सम्भव नहीं होता केवल मन देह को छोड़कर नहीं जा सकता। वह देख अवश्य सकता है, परन्तु जहाँ है वहीं से देख सकता है। प्राण के संयम का भी उपाय है। वह है प्राणायाम। प्राण संयम से कुण्डलिनी जागृति, नाभिचक्र प्रस्फुटन तथा शक्ति का उद्दीपन सम्भव है। क्रिया शक्ति विकसित होती है। तब प्राणशक्ति अपने स्थान पर स्थिर हो जाती है। अब इष्टवस्तु के स्थान पर्यन्त मन जा सकेगा। क्योंकि अब मन एकाकी नहीं है। वह प्राण के साथ है।

मन जब निश्चल अवस्था में अवस्थित है, तब वह शुद्ध हो गया। नाद श्रुतिगोचर होने से यही होता है। यह क्रिया की शेषावस्था है। उस समय ज्योति उदित है, चैतन्य विकसित है। मन निरुद्ध न होकर स्थिर है। यही है ज्ञान।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अखण्ड सत्व

अखण्ड सत्त्व से बाहर होकर सत्वांश जड़ स्तर में जा गिरता है। अतः स्थूल सृष्टि होती है। अखण्ड सत्त्व मान लो 'स' है। सत्त्वांश मान लो 'क' है। 'क' जब गिरता है, तब उसका मुख बाहर है। अतएव वह आत्म-विस्मृत है। जड़ में आबद्ध है, भगवद्-विस्मृत है। 'स' से 'क' का जो बहिष्कार है, वह है निग्रह स्थिति। यदि वहिष्कृत करके ही 'क' के मुँह को अपनी ओर अभिमुख कर दिया जाय, तब बाहर आकर भी 'क' का लक्ष्य 'स' की ओर ही रहेगा। यह ज्ञानी अथवा प्रेमिक की अवस्था है। इसी प्रकार 'क' के जड़ में आने पर उसका मुँह 'स' की ओर रहेगा। अतः बन्धन नहीं होता। वह इच्छानुरूप मुड़ सकता है। जड़ में गिराने से पहले ही इस 'स' की ओर मुँह फेरे, यह 'स' की अनुग्रहशक्ति सापेक्ष है। 'स' 'क' की ओर मुँह किये है। लेकिन 'क' जबतक बहिर्मुख है, तब तक वह समझ में नहीं आता। 'क' अन्तर्मुख होगा, तब समझ सकेगा। यह अन्तर्मुखीनता अनुग्रहसापेक्ष है। प्रथमतः बहिर्मुख होते ही जीव होता है। यह निग्रहजन्य है। बाद में अनुग्रह से अन्तर्मुखीन हो जाता है। ज्ञान-भक्ति पाता है। 'स' में जो 'क' है वहाँ कोई मुख नहीं है। किन्तु 'क' को अन्तर्मुख करके भी बाहर किया जा सकता है। यह है अनुग्रहपूर्ण सृष्टि। यह सृष्टि निग्रह नहीं है। बाहर करके अन्तर्मुख करना निग्रहपूर्वक अनुग्रह है। नित्य जीव सदा अन्तर्मुख होते हैं। जब बाहर होते हैं, तब भी अन्तर्मुख ही रहते हैं। लीलाशक्ति से बाहर होते हैं। लीला का निवर्तन होने से बाहर लौट जाते हैं।

चिन्मय धाम में बहिर्मुखता रह नहीं सकती। रहने से जड़ स्तर में पतन होता है। वहीं सदा अन्तर्मुखता रहती है। वहाँ पर क्रमयुक्त काल नहीं है। इसलिए वास्तव में बाहर होकर बाद में अन्तर्मुख होना सम्भव नहीं है। सम्भव होता है जड़ तक आकर वहाँ से अन्तर्मुख करना।

जीव अज्ञान में सोकर पुनः अज्ञान में जागता है। उसी प्रकार ज्ञान में सोकर पुनः ज्ञान में ही जागता है। सोने के साथ-साथ देहस्मृति जाती रहती है। देह परमाणु भी लीन हो जाते हैं। बिखर कर व्यापक होते हैं। अज्ञान दो प्रकार का है—प्रान्तस्थ; जहाँ यह घनीभूत होता है, विशुद्ध! लय यही होता है। द्वितीय है मध्यस्थ। जहाँ वृत्ति है। यह व्यवहार क्षेत्र है। ऐसे ही ज्ञान भी द्विविध है—घना एवं तरल। लोग जिसे मृत्यु कहते हैं, वह इसी अज्ञान में लय अथवा डूबना है। फिर इसी अज्ञान में ही उतरता है। मृत्यु से अज्ञान-राज्य का भेदन नहीं होता। लोग जिसे ज्ञान कहते हैं, वह ज्ञान में डूबना है। यहाँ से भी उतराक़र फिर ज्ञान में ही आता है। कैवल्य द्वारा ज्ञानराज्य भेद नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान-अज्ञान के परे जो पद है, वही प्रकृत अवस्था है। यह दो प्रकार की है— एक बार लय हो जाना, पुनः बाहर आ जाना। यही है भक्तिराज्य। यहाँ जो लय होता है, वह रस में होता है। तब वहाँ से पुनः बाहर उठकर रसराज्य में ही रहता है। डूबने से रसलाभ और उतराने पर भक्तभाव में स्थिति। पहला लय सत् में, दूसरा है चित् में, तृतीय है आनन्द में। सभी राज्यों में संकोच-प्रसार है। सद्राज्य में लय से मृत्यु, विक्षेप से पुनर्जन्म। चिद्राज्य में लय से कैवल्य, विक्षेप से लीला-मण्डल में संचार।

जहाँ संकोच-प्रसार है, वहीं शक्ति का खेल है। सद्राज्य की देह, जड़ देह है। स्थूल शरीर है। लय के समय यह अज्ञान में मिल जाता है। तब वह अज्ञान से ही घटित हो उठता है। चिद्राज्य में भी सूक्ष्म देह है। लयावस्था में यह चैतन्य में लय हो जाता है। उत्थान के समय चैतन्य से ही वह घटित हो जाता है। आनन्दराज्य में जो देह है—वह है कारणदेह। इसका लय आनन्द में होता है और फिर आनन्द से ही यह गठित होता है। संकोच-प्रसार के बीच के स्थल में संकोच-प्रसार नहीं है। दोनों ही समसूत्र हैं। तभी यह विच्छेदावस्था है। जैसे जड़ देह लेकर चित्राज्य में नहीं जाया जाता, वैसे ही कोई चित्देह लेकर आनन्दधाम में नहीं जा सकता। इसी तरह आनन्ददेह लेकर कोई शिवधाम प्राप्त नहीं कर सकता।

लेकिन मृत्यु के अनन्तर कैवल्य तथा रसप्राप्ति से शिवसायुज्य होता है। वास्तव में जीव कभी भी शिव नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो शिव है ही। पुनः शिव कैसे होगा? अतः जीवभाव की ओर से केवल शिव-सायुज्य होता है। उससे पुनः लौटना पड़ेगा। ब्रह्मत्व-लाभ करना सहज कल्पना है। क्योंकि ब्रह्मसृष्टि में एकमात्र ब्रह्म है। अन्य कुछ ऐसा नहीं है जो ब्रह्म हो। हाँ, अब्रह्मदृष्टि में संकोच-प्रसार की सीमा पार कर जाने से ही ब्रह्म-सायुज्य हो गया, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि तब एकमात्र असीम ही रह जाता है। सीमा स्वयं को खो देती है। उससे फिर सीमा में आना पड़ता है।

अतएव प्रकृत पुरुषकार यही है कि जब बाहर आना ही होता है, तब उस समय भी जड़ का मुँह बाहर की ओर होता है और आनन्द का भीतर की ओर। बहिर्मुख होते हुए शिवसंयोग न होने के कारण व्युत्थान काल में बहिर्मुखता रहेगी ही। यह शिवसंयोग है मृत्यु। व्युत्थान है पुनर्जन्म। मुखहीन होकर शिव-सायुज्य होने पर यदि बाद में उठा भी जाये, तब उसी भाव में उठना होगा। परन्तु अन्तर्मुख होकर सायुज्य मिलने पर व्युत्थानावस्था में वह अन्तर्मुख हो जाता है। अतः वह आनन्द की ओर लक्ष्ययुक्त रहता है तथा आनन्दमय देहयुक्त भी रहता है। वह पुनः ज्ञानराज्य में नहीं उतरता। आनन्द का केन्द्र उसे खींचे रहता है। बाहर होने पर भी वह आनन्द केन्द्र के राज्य को अथवा आनन्दचक्र को भेदकर नहीं उतर सकता। ज्ञान में नहीं उतरे, तब अज्ञान का क्या भय? ज्ञान है, तब अज्ञान की शंका होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञान रहने से ज्ञान की आशा रहती है। लेकिन दोनों से अतीत हो जाने पर न तो आशा है न आशंका।

फलस्वरूप ज्ञानी के भी पतन की सम्भावना नष्ट नहीं होती, क्योंकि उसे ऊपर खींचे रहनेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी स्वाधीन है। अज्ञानी पराधीन है अथवा जड़ाधीन है। भक्त न तो स्वाधीन है, न पराधीन। जहाँ स्वाधीनता है, वहीं पतन-भय है। भक्त दोनों से परे है।

आत्मरूप में जो दर्शन होता है, वह देशकाल के परे है। यहाँ तक कि बुद्धिग्राह्य दृश्य भी खण्डकाल के ऊपर है। क्योंकि वहाँ अतीत तथा अनागत विद्यमान है। विप्रकृष्ट-सन्निकृष्ट। मन के साथ ही खण्डदेश तथा खण्डकाल आविर्भूत होता है। मनोदृश्य सूक्ष्म होने पर भी देश-काल से परिच्छिन्न होता है। इसी प्रकार उसमें भ्रम-संशय नहीं है। इन्द्रिय-दृश्य भी वैसा ही है। स्वप्न तथा जाग्रत् तो केवल मात्र इन्द्रिदर्शन तथा मनोदर्शन मात्र है।

सुषुप्ति में मन की क्रिया न रहने पर भी बुद्धि में प्रवेश नहीं मिलता। बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करते ही सुषुप्ति चली जाती है। तभी ध्यान प्रारम्भ होता है। समाधि पर्यन्त बुद्धि का क्षेत्र है। बुद्धि के बाह्य में अज्ञान खेलता है। यह रजोरूपी है। यही मन का उत्पादक एवं चाञ्चल्य कारक भी है। बुद्धि के ऊपर सत्वरूपी अज्ञान है। अव्यक्त प्रकृति के व्यक्त दृश्यरूप को बाहर दिखलाने वाला यही है। बुद्धि उसे देखती है। मन के बाहर एक तमोरूपी अज्ञान भी है। अब इसके प्रभाव से मन ही इन्द्रियरूप हो जाता है।

सत्त्वरूपी अज्ञान कट जाने पर अव्यक्त का दर्शन होगा। यह बुद्धिवृत्ति नहीं है। अव्यक्त प्रकृति का दर्शन है त्रिगुणदर्शन। यह शुद्ध सत्वगुण से होता है। शुद्ध सत्त्वगुण के ऊपर का अज्ञान कटते ही शुद्ध सत्व स्वयमेव प्रत्यक्ष हो जायेगा। इसका दर्शन चैतन्य के आलोक में हो सकता है। उस आलोक के उपसंहृत हो जाते ही शुद्ध सत्व भी स्तिमित हो जाता है और रहता है मात्र चैतन्य। वही द्रष्टा है, वही है दृश्य। वह स्वप्रकाश है। चैतन्यालोक का प्रसारण एवं उपसंहार स्वातंत्र्य के कारण होता है। यही है स्वाधीनता।

विभूति छटा है। यह जगत् ही उनकी विभूति है। क्रिया करते-करते उनकी कितनी ही विभूति प्रत्यक्ष होती है। उससे तृप्ति नहीं होती, शान्ति नहीं मिलती। भूख नहीं मिटती। इन्द्रजाल से अभाव दूर नहीं होता। असली वस्तु चाहिये। छाया से क्या होगा? वस्तु ही उपादान है। वह है वर्णस्वरूप, मातृकारूप। हम साधारणतया जो देखते हैं, वह मात्र उनकी छटा है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशुद्धवाणी प्रसंग

परमाराध्य गुरुदेव श्रीमत् विशुद्धानन्द परमहंस की पुण्य स्मृति में विशुद्धवाणी को धारावाहिक प्रकाशित करने की इच्छा थी, किन्तु नाना अन्तराय के कारण यह कार्य दीर्घकाल तक प्रारम्भ नहीं हो सका। आज गुरुदेव के आशीर्वाद से हम लोगों का सौभाग्य उदय होने के कारण इस मंगलमय मुहूर्त में श्री गुरुदेव को प्रणाम करके समुदय गुरुभाई वृन्द का सादर अभिनन्दन करता हूँ।

विशुद्धवाणी विशुद्ध स्मृति को उज्ज्वल करके धारण करेगी तथा यथाशक्ति वहन करेगी। जो विशुद्ध सत्ता हमारे जीवन में कर्माधार रूप से, भवपार की काण्डारी रूप से समागत है, हम जानते हैं कि वह विशुद्ध सत्ता ही समग्र विश्व की एकमात्र कर्णधार है। मद्गुरुः श्री जगद्गुरुः। जो हमारे गुरु हैं, वे ही विश्वगुरु भी हैं। जो विश्वगुरु हैं, वे हमारे भी गुरु हैं। अतः विशुद्ध-स्मृति का तात्पर्य यह न समझा जाये कि यह केवल व्यक्तिगत रूप से हमारे गुरुदेव के आध्यात्म जीवन-साधन तथा सिद्धि का इतिहास है अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व तथा क्रम का निर्देश है, उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व तथा क्रम के अतिरिक्त देश-काल विशेष में उनके द्वारा प्रदर्शित लीलाविभूति आदि का स्मरण अथवा आलोचना है—प्रत्युत् इसे सर्वयुगीन तथा सर्वदेशीय भगवद्भक्त, तत्त्वज्ञानी, तथा कर्मनिष्ठ योगीगण के साधन, सिद्धि तथा उपदेश रूप समझा जाये। क्योंकि सर्वत्र एक विशुद्ध सत्ता की ही क्रीड़ा चलती है। केवल यही नहीं, महाजनगण अनुमोदित, अनुभवसिद्ध तथा स्वसंवेद्य मार्ग अथवा उपाय की आलोचना भी हमारे लक्ष्य के अन्तर्भुक्त है। संक्षेप में, जो कोई भी आलोचना मानव के लिए हितकारी तथा लक्ष्य-प्राप्ति के अनुकूल विवेचित होगी, उनमें से किसी के प्रति भी इस विशुद्ध वाणी द्वारा समादर ही प्रकट किया जायेगा। चित्त के अनुदार भाव से ही अपने अपरिगृहीत तथा अपरिचित मत तथा पंथ के प्रति 'मानुष' में उनके प्रति अश्रद्धा का उदय होता है। यह संकोचमयी दृष्टि विशुद्धवाणी के मौलिक आदर्श के प्रतिकूल है। जहाँ सर्वत्र आत्मभाव का प्रसार है, वही अभिप्रेत है, वहाँ द्वन्द्व तथा विरोध का अवसर कहाँ है ? जगत् में विरोध है, यह सत्य है। विचार-क्षेत्र में, दर्शनशास्त्र तथा व्यवहार-भूमि में सर्वत्र ही इसका परिचय मिलता है, किन्तु विरोधृ के मध्य अविरुद्ध सत्य भी है। विशुद्धवाणी यथासम्भव उस अविरुद्ध अंश को ही देखने के लिए प्रयत्नशील है। क्योंकि 'अविभक्तं विभक्तेषु' यही है विशुद्ध ज्ञान का लक्षण।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्ण के पथ पर चलने के लिए अपने लक्ष्य को प्रारम्भ से ही पूर्ण की ओर रखना होगा। पूर्ण में ही समस्त विरोधों का समन्वय होता है। लक्ष्य पूर्ण होने पर व्यवहार-क्षेत्र के ग्रन्थिबद्ध भाव में भी मुक्त सत्य का दर्शन प्राप्त होने लगता है। श्रीगुरुदेव की पावन स्मृति में रंजित तथा सञ्जीवित होकर मैं समग्र विश्व को अपना समझकर व्यवहार करने का प्रयत्न करूँगा—"बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्"। विशुद्धवाणी योगी की वाणी है। इसका आदर्श है योगी का आदर्श। अतएव साधना, सिद्धि तथा भाव का प्रकार भेद चाहे जितना भी हो, सब में समभाव से एक ही महान् आदर्श प्रच्छन्न रूप से रहता है। जगत् की अनन्त विचित्रता के मूल में तथा अन्तःस्थल में अभिन्नभावेन, जो एक हो, उस एक को खोज निकालना आवश्यक है। तभी तो वैचित्र्य की सार्थकता सिद्ध होगी। कर्म सत्य है, ज्ञान भी सत्य है, सक्रिय तथा सगुण सत्य है, निष्क्रिय तथा निर्गुण सत्य है, साकार सत्य है, निराकार भी सत्य है—किन्तु परम सत्य वही है जहाँ कर्म-ज्ञान, सक्रिय-निष्क्रिय, साकार-निराकार एक अखण्ड रूपेण प्रकाशमान रहते हैं। ये सब एक की ही दो परस्पर संसृष्ट दिक् अथवा पृष्ठभूमि रूप नहीं है, अपितु एक के ही अभिन्न रूप हैं।

विज्ञान-दृष्टि ही समन्वय दृष्टि है। इसी दृष्टि से ही रहस्य का भेदन हो सकता है। कर्म के दृष्टिकोण से जगत् सत्य है, भेद सत्य है, प्रत्येक व्यक्ति की महिमा सत्य है। ज्ञान के दृष्टिकोण से जगत् मिथ्या है, भेद-व्यक्तित्व भी मिथ्या है। किन्तु विज्ञान की दृष्टि में तो यह सब एक ही महासत्य है। ज्ञान में जो मिथ्या प्रतीत होता है, वह सब तत्तद् दृष्टि से मिथ्या होने पर भी 'एक' की ही स्वातन्त्र्य-कल्पित लीलामयी अनन्त आत्मप्रकाश रूप परम सत्ता है। वास्तव में एक को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। लीलातीत रूप से जो 'एक' स्थिर तथा चिर शान्त है, लीलारूपेण वह 'एक' ही अनन्त प्रकार से अनन्त सज्जा द्वारा चिरकल्पनामय है। वास्तव में शान्त तथा अशान्त के भेद रूप प्रश्न की वहाँ सत्ता ही नहीं है। वहाँ इस प्रश्न के लिए भी स्थान नहीं है कि 'एक' ही एक है? यह प्रश्न वहाँ उठता ही नहीं। समस्त रहस्य-भेदन तथा संशय-छेदन यहीं होता है। ग्रन्थिमुक्त हृदय के अभाव में इस महास्थिति में प्रतिष्ठा नहीं मिलती।

इष्ट, गुरु तथा आत्मा का अभेद जब तक नहीं हो जाता, तब तक क्लान्तिमय यात्रा का अवसान नहीं होता। चैतन्यमय गुरु की कृपा से इष्टलाभ होता है। आनन्दरूपा शक्ति का सन्धान प्राप्त होता है और कृपा के साथ अपने कर्मबल से 'उनकी' प्राप्ति होती है। तब अनिष्ट की निवृत्ति हो जाती है, दुःख का अवसान घटित होता है और अपनी दुर्बलता समाप्त हो जाती है। मातृस्तन्य निःसृत अमृतधारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में अभिषिक्त होने से शक्ति-सम्पदा तथा ऐश्वर्य-गौरव के साथ आनन्दमय राज्य का सिंहासन अधिगत हो जाता है। तत्पश्चात् ऐसी अवस्था मिल जाती है, जिससे इस सिंहासन की गरिमा में भी आबद्ध रहते नहीं बनता। तब सर्वस्व त्याग करके अकिंचन के समान पुन: मार्ग पर चलने लगता है। जो पथिक पहले गुरु निर्दिष्ट रूप से उनकी कृपा का सम्बल लेकर माँ को खोजने निकला था, इस बार वह माँ के साथ मिलित भाव से गुरु को खोजने निकला है। पहले जिस प्रकार से गुरु को प्राप्त किया था, वह सम्यक् रूप से गुरु को पाना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन्हें वह नहीं चाहता था। चाहना सीखे बिना पाया नहीं जा सकता! वे दया करके तब उसके पास आये थे, छद्मवेश में। स्वरूप में नहीं आये थे। शिष्य को व्यथित देखकर उसकी व्यथा दूर करने आये थे। आने के पश्चात् आनन्द का बीज कणादान करके आनन्द भूमि के पथ—माँ को पाने के पथ को दिखला गये। आज साधक आनन्दमय है, उसने आनन्दमयी रूप से माँ को पा लिया है।

माँ ही पूर्ण साकार रूपा हैं। जगत् में जहाँ कहीं जितने भी आकार हैं, वे इनके ही अंश हैं, इनकी ही कलायें हैं, इनकी ही रश्मियाँ हैं। समस्त रूप इन एक परम रूप की ही एक-एक छटा मात्र हैं। सभी रस इस परम रस का ही किंचित् आभास मात्र है। गन्ध स्पर्श-शब्द जहाँ जो है, सब इनकी ही विभूति है। वास्तव में हमको जो (देह) मूर्त्त-विग्रह में चक्षु-कर्णादि इन्द्रिय वर्ग की प्राप्ति हो सकी है, वह विषयों को रूप-रसादि को ग्रहण करने के लिए नहीं है। वह है माँ के ही रूप-रसादि को धारण करने के लिये। भक्त कवि कहते हैं—

हेन कृष्ण अङ्ग गन्ध, जे ना पाय से सम्बन्ध
तार नासा भस्त्रारई समान

वास्तव में माँ सर्वेन्द्रियवेद्य हैं, इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है इस महासाकार विग्रह के साक्षात्कार से। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, लावण्य, यौवन, करुणा, वात्सल्य, स्नेह, प्रेम, क्षमा प्रभृति अनन्त गुणराशि वहाँ पर हिल्लोलित होती रहती है।

दीर्घ संसाररूपी मरु-कान्तार भ्रमण क्लिष्ट होकर प्राण प्रेममयी जगत्जननी के सुशीतल क्रोड़ में तृप्ति प्राप्त करता है। किन्तु पूर्ण के यात्री के लिए यह विश्राम भी सामयिक विश्राम ही है। तभी इसका भी त्याग करना होगा। इसे ठीक से त्याग करना भी नहीं कह सकते, क्योंकि योगी को त्याग नहीं है। उसे इसे भी छोड़कर आगे चलना होगा।

तब मानों माँ अदृश्य हो जाती हैं। वह अपने पर्दे को हटा देती हैं। वे यात्री के साथ अभिन्न रूप से रहती हैं, किन्तु वे पृथक्रूप से दृष्टि के सम्मुखीन रहने पर भी दिखलाई नहीं देतीं। तब मानो सन्तान अब सन्तान नहीं है। माँ भी मानों माँ नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। मानों दोनों की एक ही संज्ञा है। इस प्रकार की यात्रा अति कठिन है। इस बार पथ अति दुर्गम है। क्योंकि चैतन्यमय गुरु निराकार-निर्गुण तथा निष्कल हैं। कर्मपथ में माँ को पाया जाता है, तत्पश्चात् ज्ञान के आलोक में गुरु को खोजना होगा। आनन्द से अतीत भी सत्ता है। जो चैतन्यमय जाग्रद् सत्ता है। वहाँ निरानन्द तो है ही नहीं, वहाँ आनन्द की हिल्लोल भी नहीं उठती। आनन्द तो एक प्रकार का तृप्तिमोह है। जो शान्त चैतन्यमय महासत्ता है, वह है गुरुसत्ता। इस पथ में कृपा का वारिवर्षण नहीं है। कृपाशून्य असहाय निःसम्बल यात्री को एकमात्र अपने अन्तःसम्पद के ऊपर ही निर्भर करके अत्यन्त कष्ट से पथ का अतिक्रमण करना पड़ता है। वह एक दिन महामाया में अधिष्ठित होकर परम ऐश्वर्यमय आसन का अधिकारी हो गया था, आज वही राजपुत्र वास्तव में कंगाल है। पथ का भिखारी है। कुबेर जिसके कोषाध्यक्ष हैं और अन्नपूर्णा जिसकी गृहलक्ष्मी हैं, वह शिव आज पथ का भिखारी है। निराकार की धारणा अत्यन्त कठिन है। साकार के मध्य में निराकार है, साकार राज्य का अतिक्रमण करने के पश्चात् भी वह निराकार ही मानों अनन्त आकाशवत् विराजमान है। स्वयं निराकार हुए बिना उस निराकारी का साक्षात्कार नहीं होता। तब उस महानिराकार सत्ता में सन्तान भी निराकार है। माँ भी निराकार है। यही है गुरुप्राप्ति की एक महान् दिशा। तब एकमात्र गुरु ही अपने महाप्रकाश में अखण्डरूपेण विराजित रहते हैं। यही है अनन्त अपरिच्छिन्न महाव्योमवत् निष्कम्प-निःस्पन्द महासत्ता। गुरुप्राप्ति का पथ अत्यन्त भयावह है। यह मानस सरोवर से लेकर मनोहर तीर्थ पर्यन्त विस्तृत है। यही है ऊर्ध्व मार्ग।

इसके अनन्तर अतर्किक महाक्षण में कृपाशून्य यह अवस्था कट जाती है। अब गुरु की महाकृपा से शिष्य स्वयं को पहचान पाता है। वह कौन है ? स्वयम् है। जो सभी के स्व, माया के भी स्व, गुरु के भी स्व, यात्री इस शिष्य के भी स्व हैं, वह एक आत्मा ही सबकी आत्मा हैं। यही है विज्ञान का चरम रहस्य। यही है वास्तविक आत्मलाभ। यही है स्वभाव। कर्म में माँ, ज्ञान में गुरु, विज्ञान में स्वयम्। कर्म में साकार। ज्ञान में निराकार, विज्ञान में साकार-निराकार दोनों से अतीत फिर भी उभयात्मक। माँ साकार, गुरु निराकार। माँ जब गुरु के साथ अभिन्न हैं तब माँ भी निराकार हैं। जब गुरु माँ के साथ अभिन्न हैं तब गुरु भी साकार हैं। किन्तु विज्ञान सूर्य का उदय होने पर आत्म-साक्षात्कार के क्षण में परिलक्षित होता है कि आत्मा स्वयं निराकार-उभयातीत होकर भी युगपत् साकार तथा निराकार (दोनों रूपों में) प्रकाशमान है। वास्तव में आत्मा ही गुरु है। आत्मा ही माँ है। तब आत्मा तथा नैरात्म्य का द्वन्द्व भी चिरकाल के लिए शान्त हो जाता है।

तब माँ-गुरु तथा स्वयम्, तीनों ही एक हैं। एक ही तीन हैं। वास्तव में तीन ही एक है और एक ही तीन भी है। तब कर्म-ज्ञान तथा विज्ञान अद्वय है। माँ-गुरु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा भी अद्वय। उपाय तथा उपेय भी अभिन्न! दो अद्वय तत्त्व वस्तुतः एक ही परमाद्वय तत्त्वातीत परमतत्त्व हैं। इसके भी अतीत हैं। यद्यपि यह स्थिति नित्य वर्त्तमान तथा देश-काल द्वारा अपरिच्छिन्न है, तभी, इसी कारण से इसे अतीत नहीं कह सकते, तथापि कहना पड़ जाता है। नित्य वर्तमान में ही अतीत-अनागत भासित हो रहा है। यह अव्यक्त स्थिति है 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'। यह वाणी के अतीत है। यहाँ तक की विशुद्धवाणी भी वहाँ नहीं पहुँच सकती।

यहाँ विशुद्धवाणी के कई दृष्टिक्षेत्र का इंगित रूप प्रकाशन किया गया, किन्तु इसके मूल में है वह उत्स जो अन्ध को चक्षुमान्, मूक को वाचाल करता है, पंगु से गिरिलंघन करा देता है। 'गुरोः कृपा हि केवलम्'

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धसत्त्व

सर्वाधिपति होने के लिए दृश्यमात्र की जो मूल सत्ता है, उसे निकाल कर उसका साक्षात्कार करना चाहिये। साक्षात्कार = जय। वही विशुद्ध सत्त्व है। अतः विशुद्ध सत्त्व को जिसने साक्षात्कृत् (जय) कर लिया, वही है सर्वाधपति। साधारण जीव में खण्ड सत्त्व है। उसका दृश्यजगत् उसके खण्ड सत्त्व का ही विकास है। हमारा करण-गोचर जगत् रूप-रस आदि की समष्टि है, वह हमारे सत्त्व का ही विकार है। इस खण्ड सत्त्व को अलग करते ही जगत् अव्यक्त हो जाता है। इस सत्त्व के साक्षात्कार (जय) से हम राजपद लाभ कर लेते हैं, अर्थात् प्रातिभासिक जगत् के अधिष्ठाता हो जाते हैं, इससे अधिक नहीं। जो सर्वसाधारण का यह व्यावहारिक जगत् प्रतीयमान हो रहा है, इसके अधिष्ठाता नहीं हो सकते। इसके विजय के लिए व्यावहारिक जगत् के सार (अखण्ड सत्त्व) को प्राप्त करके उसका साक्षात्कार (जय) आवश्यक है। यद्यपि यह विजय सापेक्षिक है। पूर्ण साक्षात्कार हो जाने पर वह परमेश्वर है। परन्तु अपूर्ण होने पर भी वह खण्ड अधिष्ठाता से विलक्षण है। यह अवस्था ईश्वर की विभूति रूप है। पूर्वोक्त अवस्था (प्रतिभासिक जगत् का अधिष्ठाता होना) केवल जीव की विभूति मात्र है।

❑ ❑ ❑ ❑

मनुष्य-मात्र ही शुद्धसत्त्व + चित्शक्ति का कणामात्र है। लेकिन सुप्त है। यही दिव्य आदि चक्षु तथा भाव का बीज है। यही शुद्ध मन है। प्रकृति के आचरण का तारतम्य इस बीज का तारतम्य है। इस दिव्य शक्ति को जगाने के लिए जाग्रत् दिव्य शक्ति आवश्यक है। जगने पर जड़ प्रकृति अभिभूत होगी और दिव्य प्रकृति का आपूरण होगा। उस समय पुरुषकार का विशेष स्थान नहीं। परन्तु उसका उपयोग प्रतिबन्धक हटाने हेतु है। इससे प्रकृति अबाध रूप से कार्यरत हो पाती है। पुरुषकार अथवा साधना का मूल Negative मात्र है। इस सुप्त दिव्य शक्ति को जगाने के लिए पुरुषकार आवश्यक है, जो आप ही आता है। यह अकृत्रिम है। आग जलाने से हवा आप ही बहती है (हवा लाना नहीं पड़ता) यह भी वैसा ही है। वायु न रहे तब आग नहीं जलेगी, परन्तु आग जहाँ जल रही है वहाँ हवा है। उसी प्रकार प्रकृति के जगने पर उसकी क्रिया हेतु पुरुषकार स्वयं फूट उठता है। यह कृत्रिम पुरुषकार कदापि नहीं है। उसका स्थान Negative मात्र है।

शुद्धसत्त्व ही यह दिव्य प्रकृति है। परन्तु सबका शुद्धसत्त्व समान नहीं रहता। उसमें मात्रागत, आकारगत, सन्निवेशगत तारतम्य है। भावों तथा आभा का भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तारतम्य है। शुद्धसत्त्व एक होकर भी अनन्त है और अनन्त होकर भी अखण्ड-निरवयव है। वास्तव में चित्शक्ति निरवयव है। मिश्रसत्त्व सावयव है। शुद्धसत्त्व गुण और परिणामी है।

❑ ❑ ❑ ❑

शुद्धसत्त्व के चतुर्दिक् कारणार्णव है। सत्त्व को शक्ति विशेष विक्षुब्ध करती है—उससे बाहर निकलकर बिन्दु कारणवारि में पतित होता है। उस बिन्दु-स्पर्श से कारणवारि-जड़ उपादानपुंज चंचल हो उठता है। फलस्वरूप वह Organised होता है, देहनिर्माण होता है। उस देह में वह बिन्दु अनुप्रविष्ट होता है। बिन्दु का एकांश देह में अनुप्रविष्ट होकर भी निर्लिप्त होता है। यह अन्तर्यामी रूप परमात्मा है। दूसरा अंश अवश्य अभिमानी होता है। वह जीवात्मा है। यह जो देह बनता है, वही लिंग है। यह लिंग चेतन है। यह बहुत दिनों तक स्थायी नहीं होता—तब तक, जब तक कि चिद्बिन्दु उससे प्रत्याकृष्ट न हो।

यह लिंग स्थूलता प्राप्त करता है। कैसे? स्थूल का साँचा लेकर अधोगति होने से ही स्थूलाकार-विशेष प्राप्त होता है। यह अपेक्षाकृत स्वच्छ वस्तु है। इसीलिए सब आकार ग्रहण कर सकता है। संकल्प द्वारा आकार-भावना में तदाकार हो जाता है। अधःस्तर में उतरने से वह आप ही पंचीकृत होकर स्थूल होता है। साधारण जीव या लिंग अधःस्तर में उतरकर अपने-आप पंचीकृत नहीं हो सकता।

स्थूल पिता-माता के संघर्षकाल में उससे तेज का विकास होता है। वह लिंग कोष का विकास है। उस समय माता-पिता की जैसी भावना रहती है, वह लिंग कोष वैसा ही आकार धारण करता है। फलस्वरूप, बाहर से तदाकार-तद्भावापन्न लिंग उसमें आकृष्ट होकर उसी में प्रवेश कर जाता है। उसके बाद अधोगति है, स्थूलता प्राप्ति है।

सृष्टि से हमें मिलता है—शुद्धसत्त्व बिन्दु-चिद्वीर्य, लिंग अर्थात् चिद्वीर्य + कारण वारि, तथा स्थूल अर्थात् लिंग + कार्यवारि अर्थात् पंचमहाभूत। विराट् सत्त्व—जिससे शुद्ध-सत्त्व बिन्दु का क्षरण हुआ है। यही ईश्वर हैं। अन्तर्यामी रूप में यह साथ रहते हैं। अर्थात् इनसे संसार होता है। यह साक्षी होते हैं। तुर्यातीत—यह चतुर्थ है। लेकिन सम्बन्धातीत है। यह निर्गुण ब्रह्म है। परमशिव है।

लय के समय लिंग को बाहर कर लेने से ही स्थूल Decomposed हो जाता है। लिंग ही स्थूल को पकड़े रहता है—चलता है। Decomposed होकर पंचभूत अलग-अलग हो जाते हैं। केवल समष्टि भंग होता है। लिंग तब रहता है। लिंग से सत्त्वबिन्दु हटा लेने पर लिंग भी टूट जाता है। अब सब पृथक् हो जाते हैं। इसके अनन्तर सब भीतर का व्यापार है। तब, सत्त्व-बिन्दु विराट् सत्त्व से युक्त होता है। लिंग जब तक रहता है, तब तक स्थूल की समष्टि न रहने से भी तन्मात्रा में स्थूलाभास रह जाता है। लिंग में स्थूल का दाग रहता है। केवल लिंग अकेला नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रह सकता। मृत्यु के उपरान्त परमाणु बिखर जाते हैं। लिंग भंग के अनन्तर तन्मात्रा आदि का भी बिखराव हो जाता है। तीन गुणों का साम्य होता है। सत्त्वबिन्दु के लिंग से बाहर हो जाने पर गुण साम्य में कोई बाधा नहीं रहती।

❑ ❑ ❑ ❑

सांख्य का पुरुष शुद्धसत्त्व है, जिसमें चित्‌शक्ति संचारित है। प्रकृति है अशुद्धसत्त्व जिसमें अचित् शक्ति संचारित है। शुद्धसत्त्व में चित्‌शक्ति रहेगी, किन्तु वहाँ Action द्वारा साम्यावस्था प्राप्त भी की जा सकती है। तब शुद्धसत्त्व अकेला, चित्‌शक्ति अकेली होगी। दोनों ही समान हैं। दोनों के बीच की शक्ति ही इनको जोड़ने वाली संयोजक है। यही चित्‌शक्ति है।

सत्त्व है आधारशक्ति। यह जड़ है। इसी का आश्रय लेकर चित्‌शक्ति प्रकाशमान होती है। चित्‌शक्ति शिव के आश्रय में नित्य क्रीड़ा करती है। यही चिद्-विलास है, चैतन्य की क्रीड़ा है। यह अव्यक्त है। यही ब्रज (ब् + रज) लीला है। माया स्तर की बात शुद्धसत्त्व स्तर में नहीं आती। वे शब्द मायाकाश में लीन हो जाते हैं। जिन शब्दों का सम्बन्ध शुद्धसत्त्व से रहता है, वे ही शुद्धसत्त्व में जाते हैं। शब्द में भाव हो तब भी जा सकता है। यही प्रार्थना का रहस्य है। इसी प्रकार शुद्धसत्त्व के आह्वान को मायिक स्तर के लोग नहीं सुन सकते। शुद्धसत्त्व तथा चित्‌शक्ति में अनेक सम्बन्ध हैं।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तर्यात्रा

आँखें मूँदने से जो अन्धकार परिलक्षित होता है, उसका जो द्रष्टा है, वही है जीव अथवा प्रत्यगात्मा का स्वरूप। इस अन्धकार को यदि दूर किये बिना स्थूल देहात्मबोध दब जाये तब स्वप्न दर्शन होता है। इसे दूर न करके यदि स्थूल में लिप्त रहा जाये और स्थूल देहात्मबोध रहे तब जाग्रत् है। (भले ही इन्द्रियों से मुक्ति मिली हो अथवा नहीं) इस अन्धकार को यदि दूर न करके स्थूल की विस्मृति हो जाये, तथापि मन स्थिर रहे, तब है सुषुप्ति। स्वप्नावस्था में मन की स्थिरता नहीं रहती। स्वप्नावस्था में तनिक अन्धकार में ही जगत्दर्शन होता है। यह वासनामय स्वप्न नहीं है। आँखें बन्द करने पर जाग्रदावस्था में अन्धेरा पलिक्षित होता है। तब वृत्ति अन्तर्मुखी रहने पर भी बाहरी स्मृति रह जाती है। तब जगत् देखा जाता है बहिर्मुखीनता में। जाग्रत् तथा स्वप्न, दोनों में ही मन क्रियाशील है। द्रष्टा अवश्य काम करता है, परन्तु प्रत्यविमर्श नहीं होता। सुषुप्ति में मन काम नहीं करता, इन्द्रियाँ भी काम नहीं करतीं। द्रष्टा काम करता है, तब भी प्रत्यविमर्श नहीं होता। द्रष्टा को यह बोध नहीं रहता कि वह देख रहा है। अतएव जाग्रदावस्था ही श्रेष्ठ है। यहाँ ज्ञान पाने का अवसर है।

आँखें मूँदने पर जब अन्धकार न दिखाई पड़े, तभी देहात्मबोध जायेगा। स्थूल अलग होगा। यही ज्ञान है। उस समय द्रष्टा आँखें मूँदने पर, आलोक देखेगा। यह बोध रहेगा कि देख रहा है। यही तो ईप्सित है! अतएव दृश्य-दर्शन हुए बिना वास्तविक कर्म अथवा साधना का सूत्रपात नहीं होता। दृश्य को लक्ष्य रूप में सामने रखकर कर्म करते-करते द्रष्टा दृश्य को अपने में तथा अपनी आत्मा के रूप में प्राप्त करता है। किसी भी वस्तु को 'मैं' रूप में पाये बिना यथार्थ प्राप्ति नहीं हो सकती। इसकी भी दो दिशायें हैं। आत्मा में दृश्य-दर्शन तथा दृश्य में आत्मदर्शन।

इसका भी कारण है। जिस कर्म से या क्रिया से यह होता है, वह उभयमुखी है। लेकिन उसकी प्रवृत्ति एक-एक करके होती है। जब तक अभिमान के मूल से कर्म होता है, तब तक कर्म मेरा है, इसलिए क्रिया के फल में 'मैं' ही अग्रसर होता है। दृश्य स्थिर है। 'मैं' उसमें जाकर उसकी आत्मा के रूप में आविष्ट होता है। दृश्य तो जड़ था। 'मैं' के उसमें आविष्ट होते ही वह चेतन हो जाता है। यही है दृश्य में आत्मदर्शन।

जिस समय कर्म होता है, किन्तु अभिमान नहीं रहता, तब दृश्य चलता रहता है। 'मैं' स्थिर रहता है। दृश्य क्रमशः सन्निहित होकर 'मैं' में प्रवेश करता है। 'मैं' रूपेण दृश्य स्फुटित हो जाता है। अब दृश्य बाहर नहीं है। भीतर है। यही है आत्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में विश्वदर्शन। इसकी परावस्था में कर्म नहीं है, अतः व्यवधान भी नहीं है। इसलिए दोनों समानरूप से संसिद्ध होते हैं।

आँखें बन्द करने से जो अन्धकार परिलक्षित होता है, वही है साधक का छायामय प्रभामण्डल, जो अविद्या वासनादिमय आवरण रूप है। जप-ध्यान से यह अन्धकार आलोकित हो उठता है। क्योंकि जपादि साधना से क्षुद्र-क्षुद्र ताड़ित कण संचित होते हैं, घनीभूत होकर अन्धकार विदूरित कर देते हैं। ध्यान में भी यही होता है। जप-ध्यान के मूल में दीक्षा आवश्यक है। क्योंकि साधारण जप तथा ध्यान कल्पित शब्द तथा रूप की सहायता से होता है। अब यदि वह (दीक्षा के) अकल्पित शब्द तथा रूप के प्रतिरूपक-सदृश हों, तब दीर्घकाल में जप-ध्यान से यह अन्धकार दूर होगा ही, यही है ज्योतिदर्शन। क्रम वृद्धि में चतुर्दिक् केवल ज्योति ही रहती है। अभी रूप दर्शन नहीं होता।

तदनन्तर है रूप दर्शन। यहाँ अकल्पित शब्द मिलता है। रूप भी अकल्पित है। यही है मन्त्र चैतन्यावस्था। इस अवस्था में शब्द भी चेतन, रूप भी चेतन! यही है सूर्योदय। किन्तु बीच-बीच में मेघ आकर सूर्य को आवरित कर देता है। इसलिए सब समयदर्शन नहीं होता है। पूर्ण रूप से सम्यक् दर्शन होने के लिए मेघ की ओट हटाना ही होगा। वही सारूप्य है। प्रकृत ध्यान रूप दर्शन के अनन्तर होता है। अब ध्यान इस दर्शन के उपरान्त स्वतः आयेगा। ध्यान टूटा, तहाँ बाह्यावस्था आ गई। अब पुनः जप-रूपाविर्भाव तथा ध्यान। यह आवर्तन बारम्बार होने से धीरे-धीरे सब स्तम्भित होगा। ज्योति का आश्रय लेकर भी ध्यान, रूप का आश्रय लेकर भी ध्यान। रूपाश्रय वाला ध्यान प्रकृष्ट नहीं है। ज्योतिर्ध्यान प्रकृष्ट है। तभी निर्गुण में प्रवेश होगा।

यह चित्त तो स्फटिकवत् स्वच्छ है। व्यापक है। आँखें मूँदने से जो अँधेरा परदा दिखलाई पड़ता है, वही है चित्तमल अथवा आवर्जना। यह मल (आवर्जना) नीचे से जमा होता है। ऊपर से तो चित्त पर सदा सहस्रार ज्योति है। परन्तु जब तक यह मलरूपी बादल छँट नहीं जाते, तब तक वह ज्योति चित्त पर नहीं पड़ती। आवर्जना हटते ही चित्त आलोकित हो जाता है। यह आलोकपात अहेतुक है। अपने आप होता रहता है। इसे चेष्टा करके कोई नहीं प्राप्त कर सकता। मनुष्य की चेष्टा सूर्य (सहस्रार) प्रकाश को बिखेर ही नहीं सकती। उसकी चेष्टा है केवल बदली हटाने के लिए। बादल हटते ही चित्त का उद्भासन होने लगता है। यहाँ कारण है = Source of illumination अथवा लिंग। लिंग ही चित्त है। स्फटिकवत् स्वच्छ। पंचभूतात्मक भौतिक आवरण। जब आँखें मूँदने से अन्धकार न दिखे, व्यापक प्रकाश परिलक्षित हो तब समझना होगा कि लिंगदेह अब स्थूलदेह से अलग है। यह अलगाव होते ही व्यापक आलोक में अपने आप को देखा जा सकता है।

इस आलोक में समग्र जगत् परिलक्षित होता है। इसकी भी दो अवस्था है। पहली में इस आलोक में अपनी देह के अतिरिक्त सब कुछ परिलक्षित होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरी अवस्था में अपनी देह दिखलाई पड़ती है। तब सम्यक् देखना होता है। क्योंकि अपना देह भी दृश्य है। आलोक से अपने लिंग (चित्त) में ही देखा जाता है। जो देखता है—वही है जीव। जीव ही साक्षी अथवा द्रष्टा है। इस व्यापक प्रकाश का जो उत्स है, Source है, वही है परमेश्वर। वही है ब्रह्म अथवा वेद। द्रष्टा की अनुभूति में स्वरूपतः जीव अणु है। व्यापक चित्तयोग में जीव विभु है। स्थूलदेह के साथ युक्त चित्त व्यावहारिक संकोचवशात् मध्यम है। अर्थात् जीव-मध्यम।

यह जो आलोक सदा ही चित्त पर पड़ता है, यह अहेतुक है। शाश्वत भी है। यही है भगवान् की नित्य सामान्य कृपा। इसके न रहने पर जीव प्रयत्न करके भी क्या पा सकेगा? चित्त के क्षेत्र से यदि अन्धकार हट भी जाता, फिर भी आलोक के अभाव में चित्त अव्यक्त ही रह जाता। उसमें तो अपनी तक स्फूर्ति न रहती। परन्तु प्रयत्न का मूल है कहाँ? बदली के हटते ही सम्मुख प्रकाश है, क्योंकि वह तो व्यापक रूप से सदैव ही है। उसका बदली के साथ कोई विरोध नहीं है। परन्तु (बदली हटाने के लिए) विशेष वायु चाहिये। उसका प्रवाह चाहिये। इसका भी मूल है सूर्य (आलोक)। इसकी विशेष किरण से ही वायु का विशेष प्रवाह चलता है। यह प्रवाह आवरण (बदली) दूर कर देता है। वास्तव में मेघ सूर्य की सामान्य किरणों को नहीं ढकता। वह तो द्रष्टा से सामान्य किरण सम्बन्ध को ढँक देता है। अतः सूर्य की विशेष कृपा के अभाव में उनकी (भगवान् की) सामान्य कृपा का अनुभव नहीं हो सकता। यही है दीक्षा। जीव की चेष्टा निमित्त मात्र है। यह विशेष कृपा के फल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही है स्वातन्त्र्य।

यहाँ कृपा शब्द का प्रयोग किया गया है। सभी प्रसंग में उनकी कृपा के निदर्शन को स्वीकार कर सकना साधारण लोगों के लिए अमूलक है। यदि सब कुछ उनकी कृपा है, तब अकृपा तो कहीं है ही नहीं! जो व्यक्ति कष्ट का अनुभव कर रहा है और उसके साथ दूसरा अनुभव नहीं हो रहा है, यह भी उनकी कृपा के रूप में मानना पड़ेगा। कम से कम यह तो कहना ही होगा कि इसमें भी उनकी कृपा है। अतः कष्ट में भी आनन्द-लाभ अनिवार्य है। यह भी व्याख्या की जा सकती है कि यदि उनकी कृपा न होती तब यह दुःख और भी भयानक होता। अतः हृदय की अनुभूति के विरुद्ध बलात् कृपा को स्वीकार करने का कोई औचित्य अथवा मूल्य नहीं है।

किसी-किसी का मत है कि कर्मफल सत्य है। कृपा है ही नहीं। सब कुछ कृतकर्म के फल से होता है। उसमें कृपा कहाँ? जैसा कर्म, वैसा फल। कृपा अथवा जड़ शक्ति भी इसे नहीं बदल सकते। इस दृष्टि से जीव स्वतन्त्र है। कर्मफल केवल कर्मजन्य ही नहीं होता। जब तक हम यह देख नहीं पाते अथवा जान नहीं पाते कि किस कर्म का हम क्या फल पा रहे हैं, तब तक यह निश्चित नहीं होता कि वह फल मेरे ही कर्म का फल है। केवल युक्ति से मानना ही मानना नहीं है। अज्ञानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोग यही मानते हैं कि स्वाभाविक कर्म भी नहीं है, कृपा भी नहीं है। सब जड़शक्ति का ही व्यापार है। यह उनका मत है। मान लीजिये मैं बहुत कष्ट पा रहा हूँ। अज्ञानी का समाधान अनेक प्रकार का है। लेकिन सर्वत्र इसका कारण जड़शक्ति को ही माना जाता है। जड़शक्ति से ही इसका प्रतिकार लोग मानते हैं।

यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान से ही अवगत हो पाता है कि मेरे ही कर्म-विशेष से इन कष्टों की उत्पत्ति है। अन्य कर्म से इसकी निवृत्ति हो सकेगी। जड़ केवल निमित्त है। यदि पृष्ठभूमि में मेरा अपना कर्म नहीं है, तब जड़ कदापि कष्ट नहीं दे सकता। उपशमार्थ यही समझना चाहिये। जब मेरा ही कर्म कारण है, तब कर्म की शुद्धि के बिना उपशम नहीं हो सकता। भक्ति का उदय होने पर अथवा भगवद्दर्शन से यह ज्ञात होगा कि उनकी ही इच्छा से यह दुःख-भोग है। जीव तथा जीवकर्म मात्र निमित्त है। उपशम भी उनकी इच्छा से होता है। भक्तगण भगवद्इच्छा को ही सुख-दुःख का एकमात्र कारण मानते हैं। कर्म तथा जड़, दोनों मिथ्या हैं। केवल उनकी इच्छा ही सत्य है। भक्ति के अनन्तर उनकी इच्छा भी नहीं कह सकते। तब स्वभाव ही सुख-दुःख का कारण हो जाता है। तब उनकी इच्छा भी मूल नहीं है। इच्छा ही सुख-दुःख का कारण है। वैसी इच्छा क्यों होती है, यह समझ में नहीं आता। अतः चरम स्थिति में स्वभाववाद ही आश्रय है।

कर्म का एक साधारण रूप है, दूसरा है व्यापक रूप। जैसे कर्म करने की एक अनुभूति होती है। स्रोत के विरुद्ध चलने में ही संघर्षजनित एक ताप का अनुभव होता है। यदि इस ताप को बोध-क्षेत्र में भगवान् को सम्मुख रखकर सहा जाये, तब बोध के क्षेत्र में एक शीतलता तथा आनन्द प्राप्त होने लगता है। यही है फल। किस कर्म का क्या फल है, ऐसा विचार यहाँ नहीं आता। निर्दिष्ट फल की इच्छा रखते हुए वैसा कर्म करने पर वही फल मिलता है। तथापि ऐसा करना उचित नहीं है। क्योंकि असीम शक्ति से सीमाबद्ध कार्यसाधन अनुचित है। निर्दिष्ट फल की आकांक्षा हो, तब निर्दिष्ट कर्म ही करे। उससे वैसी क्षति नहीं होती।

बोध के क्षेत्र में भगवान् को सम्मुख रख कर निर्दिष्ट फलाकांक्षा से कर्म किये जाने पर उसके फलदाता भगवान् ही होते हैं। फल की आकांक्षा के बिना फल की Quality, Kind तथा मात्रा अनिर्दिष्ट रहती है। यहाँ भगवान् की प्रसन्नता अथवा प्रीति ही साधारण कर्म का लक्ष्य है। यदि भगवान् को सामने रखे बिना कार्य किया जाये, तब उस कर्म पर से जड़शक्ति का प्रभाव नहीं हटता। यह प्रभाव नाना विघ्नों का कारण है। इससे कर्म का वेग मन्द हो जायेगा तथा लक्ष्य भी आच्छन्न होगा।

अब मूल विषय पर आना उचित है। स्थूल चक्षु का काम है दृश्य, स्थूल जगत् तथा सहायक स्थूल प्रकार्श को देखना। यह प्रकाश है आग्नेय। सूर्य-किरण भी आग्नेय है। चन्द्र-किरण भी आग्नेय है, क्योंकि यह भी कालाग्निमण्डल में है। इन आँखों को बन्द करने पर अन्धकार परिलक्षित हो रहा है। इसे सूक्ष्म चक्षु तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन देखता है। सहायक सूक्ष्म प्रकाश की सहायता मिलने पर सूक्ष्मजगत् देखा जाता है। यह प्रकाश विशुद्ध-चन्द्र का प्रकाश है, जो पृथ्वी पर नहीं आता। यह प्रकाश प्राप्त होने पर उसमें स्थित जगत् परिलक्षित होगा। इस मनोरूप चक्षु को भी हम बन्द कर सकते हैं। तब एक चक्षु रह जाता है। वह है प्रज्ञाचक्षु अथवा 'बुद्धि'। यह कारणजगत् को 'सहायक प्रकाश' में देख सकता है। यह सहायक प्रकाश इस सूर्य का नहीं अपितु विशुद्ध सूर्य का प्रकाश होता है। इस प्रकाश में सम्पूर्ण कारणजगत् देखा जा सकता है।

इस प्रकाश की पृष्ठभूमि में जो प्रकाश है, वही है मूल ब्रह्मज्योति। वह अग्नि-चन्द्र-सूर्य से अतीत है। उसी की आभा से ये तीनों ज्योतिर्मय होते हैं। वही प्रकृत साक्षी है।

आँखें बन्द करने पर जो अन्धकार परिलक्षित होता है, वह अविद्याजन्य वासना आदि के कारण। साधनादि से यह प्रकाशित होता है। यह आज्ञाचक्र में स्थिति की अवस्था है। लेकिन यह शीशे के घर जैसा है। बाहर ज्योति है जो भीतर से भी अनुभूत हो रही है। बाहर का प्रकाश भीतर आ रहा है। वास्तव में आज्ञाचक्र के ऊपर जो बिन्दुस्थान है, वही एकाग्रता का चरम तृतीय नेत्र है। यही है ज्ञान का विकास तथा बोध के समुद्र में सन्तरण। आज्ञाचक्र भेदनोपरान्त बिन्दु की जिधर गति होती है, वही है सहस्रार कर्णिका की शाखा। यह पथ मिलन-मार्ग है। शिवशक्ति-मिलन!

पहले अन्तराकाश अन्धकारमय होता है यही कलियुग है। यही शूद्रवर्ण है। इसके अनन्तर जो पूर्ण प्रकाश होता है, वही सत्ययुग है। वही है ब्राह्मणवर्ण। कलियुग में जन्मा व्यक्ति थोड़ी सी साधना से ही सत्ययुग तक जा सकता है। इसलिए हम जितनों को देखते हैं, सभी कलियुग में ही वास करते हों, ऐसा नहीं है। कोई द्वापर में, कोई त्रेता में, कोई सत्य में वास करता है। लेकिन अधिकतर कलि में ही वास करते हैं। जो इच्छानुसार कलि से सत्य तक आ-जा सकता है, वह चारों युग की लीला देख लेता है। सत्ययुग में निद्रा, आलस्य, अन्धकार, अज्ञान नहीं है। अवश्यमेव बीज है। क्योंकि यह काल का खेल है।

देह के भीतर एक स्थान है, जहाँ जाने पर अन्तःसूर्य को देखा जाता है। कल्पना से देखने की आवश्यकता नहीं होती। यदि मात्र बाहर के सूर्य की ही भावना की जाये, तब भी देहस्थ वह स्थान उत्तेजित होने लगता है। क्रम से उस अन्तःस्थान में सूर्य को देखा जाता है। दोनों सूर्य एक हो जाने से ही यथार्थ सूर्य परिलक्षित होगा। तब अन्तःसूर्य तथा बहिःसूर्य के अतीत हो सकते हैं। तब अभिज्ञता होती है कि दोनों स्थान पर एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित हो रहा है। यही है चित्सूर्य। अन्तः-सूर्य है मनोमय सूर्य। बहिःसूर्य है भौतिक सूर्य। मूलसूर्य है आत्मसूर्य। समाधि दर्शन है बहिःसूर्य की भावना के फल से अन्तःसूर्य का दर्शन। यह है सविकल्पक दर्शन। मूलसूर्य का दर्शन ही है निर्विकल्पक दर्शन।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधारण दर्शन के समय चित् की प्रभा मन में जाकर पड़ती है। मन की प्रभा आँखों पर पड़ती है। आँखों की प्रभा विषयों पर पड़ती है। जब किसी वस्तु को देखते-देखते मन तन्मय हो जाता है, अर्थात् नेत्रों की प्रभा सिमट कर विषयाकार मात्र होती है, मन की प्रभा भी वहीं होती है। अर्थात् जब आँखों की प्रभा की रेखा और मन की प्रभा की रेखा समान—समसूत्र होती है, तब बाहर की वस्तु को हटा लेने पर भी दृश्यरूप में उसका दर्शन होता है। अर्थात् विषयकार चित्त ही उस समय इष्ट होता है। उस समय का दृश्य वास्तव में मनोमय अथवा भावमय ही होगा। तब जगत् अज्ञानमय होता है। तब समझ में आता है कि जगत् चिन्मय है। स्थूलावस्था में बाह्य जगत् इन्द्रिय का विकार है। लिंगावस्था में वह मन का विकार है, कारणावस्था में अज्ञान का विकार है। बाह्य जगत् में आत्मा का ही विलास है।

इन्द्रिय पथ से तेज बाहर जाता है। उस बाहरी गति को बन्द करने से एक ज्योति का प्रकाश होता है। इन्द्रियों की निष्क्रिय (बहिर्मुखी) गति बन्द कर देने से वह ज्योति प्रकाशमान रहती है। आत्मा से आ रही चित्-शक्ति मन पर पड़ने पर ज्योतिरूप हो जाती है। वह ज्ञान-क्रिया समष्टि है। वही इन्द्रियों से बाहर आती है। जो ज्ञानपथ है उसमें ज्ञान का आधिक्य है, क्रिया कुछ न्यून है। क्रियापथ में क्रिया अधिक है—ज्ञान अपेक्षाकृत न्यून है। ज्ञान तथा क्रिया मिलकर है चैतन्य।

पुरुषकार द्वारा इन्द्रिय संयमन से आत्मा की अपनी शक्ति भीतर ज्योतिर्मय होकर प्रकाशित हो जाती है। क्रमशः वह मन को उज्ज्वल करती है। परन्तु शुद्ध दर्शन इससे भी नहीं होता। क्योंकि जिस तेज को आत्मा में जाना चाहिये, वह मनोभूमि में संचित हो रहा है। परन्तु इससे मनोनाश नहीं होता। यहाँ तक कि मन की आत्यन्तिक शुद्धि भी नहीं हो पाती। क्योंकि जो शक्ति मन पर पड़ती भी है, वह पड़ने के कुछ पहले ही मल से संस्पृष्ट हो जाती है। तथापि पूर्ण मलयुक्त न होने के कारण विषयों की ओर (इस मार्ग से) नहीं जाती। मलिन तेज संचित और एकाग्र होकर भी मलिन ही रहता है। उसमें वास्तविक एकाग्रता नहीं रहती। दीक्षा से शुद्ध तेज मन्त्र बीजरूप में रहने के कारण एकाग्रता का आधान करता है। सम्यक् एकाग्रता से दाहिका शक्ति जाग्रत् होकर मन की समस्त मलिनता को जला देती है। तब मल कट जाने से मन स्वयमेव निरुद्ध है। शेष बची है आत्मा।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जप

लोग वाचिक जप करते हैं। यह सर्वाधिक निम्न जप है। क्योंकि तेज वायु से बिखर जाता है। अधिक संचित नहीं होता। सभी जपों में वायु की क्रिया है। सूक्ष्म जप में वायु की क्रिया भी सूक्ष्म होती है। मानस जप तथा चिन्ता एवं चिन्तना भी वायुक्रिया बिना नहीं होती। जहाँ क्रम है, वहीं वायु है। आकाश में जो जप है, उसमें क्रम नहीं है। अर्थात् क्रम एकत्वानुबिद्ध है। वह निरन्तर है। स्थूलाभिमान या बाह्यबोध रहने पर ही जप स्थूल हो जाता है। सूक्ष्माभिमान रहते हुए जप सूक्ष्म होता है। इस स्थूल जप का भी सूक्ष्मत्व है और सूक्ष्म जप की भी स्थूल दिशा है। मानस जप की परावस्था है ध्यान। इसका क्षेत्र मन तक है। समाधि तक बुद्धि है। तदनन्तर है ज्ञान। जप करते-करते तेज उत्पन्न होता है, उसे अन्तर्दृष्टि के सम्मुख देखते हैं।

जप की संख्या रखने का क्या तत्त्व है? संख्या संकल्प-कल्पार्थ रखी जाती है। जब जप निरन्तर होता रहता है, तब अनादि-अनन्त प्रवाह की तरह होता है। जैसे, क्षणिक विज्ञान की धारा स्वभावतः ही चलती रहती है। उसे सीमाबद्ध न करने पर उसकी अहम् अथवा आलय रूप में स्फूर्त्ति नहीं होती। उसी तरह से निरन्तर प्रवाहशक्ति जप को घेर देने से ही वह निजस्व, मेरा हो सकता है। यद्यपि यह कृत्रिम है। कर्ममात्र ही कृत्रिम होता है। सिद्धावस्था में चल रहा जप स्वाभाविक जप है। उसमें संख्या नहीं रहती। केवल द्रष्टा होकर उसके प्रवाह को देखते रहना चाहिये। उसका फलाफल नहीं है। क्योंकि बोधवशात् साधक में कर्त्तव्य का अभिमान नहीं है। वह उस जप का भोक्ता भी नहीं है। कर्त्ता भी नहीं है। यह प्रकृति का खेल मात्र है।

जप-यज्ञ क्या है? यह आज प्रत्यक्ष हो गया। इसी प्रकार से स्थूल सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म कारण से आकृष्ट होकर उठ जाता है। प्रतीत होता है कि नाभि की ओर अग्निकुण्ड है। यह अग्नि चिन्मयी है। सामान्यतः हमारा नाम जप होता है इड़ा-पिंगला में श्वास चलते। सुषुम्ना में कोई जप नहीं कर सकता, अपने आप होता है इड़ा-पिंगलान्तर्गत वायु स्थूलतः चलती है। जप भी स्थूल है। शब्द भी स्थूल है। किन्तु गुरुप्रदत्त होने के कारण उसमें सत्त्व शक्ति प्रच्छन्न रहती है। बारम्बार स्थूलतः शब्द उच्चारण का तात्पर्य है, उस शब्द की आहुति उस अग्निकुण्ड में देना। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। उस कुण्ड में शब्द पड़ते ही शब्द का तामसांश उस अग्नि में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भस्म हो जाता है। सूक्ष्मांश तथा सत्त्वांश सुषुम्ना की राह अपने आप ही ऊपर उठ जाता है। इस अग्नि में स्थूल-सूक्ष्म की विवेचना होती है। स्थूल शब्द सुषुम्ना की राह उठ नहीं सकता।

फलतः जितना भी जप किया जाता है, सत्त्व शक्ति के कण क्रमशः उतने ही ऊपर उठकर संचित होते हैं। परिमाण अधिक होने पर ध्यान—समाधि स्वतः आती है। ध्यान की भी एक मात्रा है। उतनी मात्रा हो जाने पर ध्यान स्वतः ही टूट जाता है। अब फिर से जप करना चाहिये। ध्यान का कालमान है। वह आधार बलानुरूप चलता है। आधार से कालवृद्धि होती है। जप-ध्यान के सत्त्वकण पुंजीभूत होते रहते हैं। उसका चिदंश अलग संचित होता रहता है। पूरा संचित हो जाने पर उसका स्फुरण होता है। इसी को प्रज्ञा का उदय अथवा ज्ञानचक्षु उन्मीलन कहते हैं। इसका भी स्थिति-काल है। उसके प्राप्त होते ही आत्म-साक्षात्कार होता है। तब ज्ञान स्थायी हो जाता है।

बीज, शक्ति तथा कीलक मिलाकर जपमन्त्र है। बीज ही मन्त्र की आत्मा है। शक्ति उसकी प्रभा है। कीलक उस मन्त्र का आवरण-आच्छादन है। मन्त्र-जप का तात्पर्य क्या है? मन के साथ बीज का संघर्ष-संयोजन। बारम्बार इस संघर्ष से बीज में निहित शक्ति स्फुरित होती है। बीज अर्थात् कारण आत्मा। मन अर्थात् लिंग। इन दोनों के संघर्षण से कारण शक्ति जाग्रत् होती है। इस संघर्ष से बीज विशुद्ध नहीं होता। उसे भूत-आवरण से वेष्ठित किया गया है। बीज शब्द के वेष्ठन से वेष्ठित है। अतएव मन भी विशुद्ध नहीं है। उसे जप द्वारा विशुद्ध किया जाता है।

मन जब निश्चल होकर अवस्थित हो, तब उसे शुद्ध जानना चाहिये। जप जनित नाद-श्रवण से ऐसा होता है। क्रिया की शेष अवस्था। उस समय ज्योति का उदय होने से चैतन्य विकसित होता है। मन स्थिर रहता है। यही ज्ञान या ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञान है। मन है अतः ज्ञान है। यहाँ दो गति है—

(1) मन कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह क्षीण होता जाता है। अव्यक्त हो जाता है। फल है ज्ञान कैवल्य अर्थात् निर्वाण। यह लय है।

(2) मन को लीन न करके उससे काम लेना। यह इच्छा का विकास है। इससे ज्योति ही इच्छानुरूप अथवा इष्टरूपेण प्रकट होती है। यह है आत्मवत्।

हमारा यह जगत् जागरण का जगत् है। लिंग जगत् को स्वप्न का जगत् कहते हैं। कारणजगत् निद्रा का जगत् है। प्रत्येक में तीन अवस्था रहती है। साधना के फलस्वरूप एक ऐसी अवस्था आती है जब अधिकांशतः लिंग-जगत् में संचरण होता है। कभी कारणजगत् में विश्रान्त होता है। कभी स्थूल में उतर आता है। देवतादि इसी अवस्था में रहते हैं। अवतार में स्थूल जगत् में विकसित होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्चभूमि के देवता-ऋषि प्रभृति कारणजगत् में योगनिद्रा तथा समाधि में रहते हैं। प्रयोजनानुरूप स्थूल-सूक्ष्म में उतर कर आप ही लौट आते हैं।

जिसे खण्ड सत्ता कहते हैं (घट-पुष्प आदि) वह प्रकाश की ही एक अवस्था है। जिसमें कोई अवस्था भेद नहीं, वह अखण्ड सत्ता है। उसका विशुद्ध रूप बोध से परे है। अतएव दो प्रकाश मिलता है। प्रथम है अव्यक्त प्रकाश जो सत्-असत् से परे है। द्वितीय है व्यक्त प्रकाश। यही अखण्ड सत्तारूप है। पृष्ठभूमि में निराकार है। अन्यत्र साकार पृष्ठभूमि है जैसे जल, खण्ड सत्ता जैसे उसकी तरंग। एक धर्मी, दूसरा उसका धर्म। इस खण्ड सत्ता का भान भी अद्वैतरूपेण होता है, द्वैत रूप में भी होता है। अद्वैत रूप में होने से पृष्ठभूमि से पार्थक्य घट जाता है। यह साकार पूर्णता में निराकारवत् होकर निराकार में मिल जाता है। परन्तु पुनः लौट आता है। खण्ड सत्ता का भान द्वैतरूपेण होने से परिणाम प्रकट होता है। पृष्ठभूमि प्रकृति है। तरंग या आकार उसकी विकृति अथवा परिणाम है।

ऊपर जो अव्यक्त प्रकाश कहा गया, इसमें द्रष्टा-दृश्य एक है। इस ज्योति का वर्णन नहीं किया जा सकता। ऊपर जिस व्यक्त प्रकाश की बात कही गयी है, वह प्रकाश व्यापक है। इसमें अभेद दर्शन होता है और तरंग रूप में आभासरूपेण उसमें भेद भी प्रतीत होता है, तथापि प्रधानता होती है अभेद की। विश्वरूप दर्शन इसी प्रकाश में होता है। अर्जुन ने कुछ क्षण हेतु 'दिव्यचक्षु' पाया था। वह यही प्रकाश है। इस प्रकाश में जो प्रकाशमान नहीं है, वह है अवास्तविक।

हमको जब साधना काल में ज्योति दिखलाई देती है, तब मूर्ति का रूप समझ में नहीं आता। उसके अवयवों का दर्शन बाद में होता है। सामान्य दर्शनोपरान्त विशेष दर्शन होता है। किसी वस्तु को Out of focus देखने पर वह मिश्र (Blurred) हो जाती है। जिस पर Focus किया जायेगा, वही पृथक् भावेन परिलक्षित होगा। अभी जो स्थूल जगत् देख रहे हैं, वह Focus का ही क्षेत्र है। जिस पर दृष्टि (Focus) है, वही परिलक्षित होता है।

सभी वस्तु का ही एक प्रतिबिम्ब आकाश में रहता है। वह साधारण व्यक्ति की दृष्टि में नहीं पड़ता, क्योंकि वे वस्तु को शुद्ध दृष्टि से नहीं देख सकते। वैसी स्थिति में वह प्रतिबिम्ब बिम्ब के साथ एकात्मभाव से रहता है। लोग वास्तव में वही प्रतिबिम्ब ही देखते हैं, समझते नहीं। जिसका ज्ञानचक्षु उन्मुक्त है, वही उस प्रतिबिम्ब को देख सकेगा।

ब्रह्मादि को साधना की आवश्यकता नहीं है। उनकी कोई साधना नहीं होती, क्योंकि वे सिद्ध हैं। वे योग करते हैं। योग का लक्ष्य है ज्योति। यह ब्रह्मज्योति है जो दिव्य ज्योति से परे है। योग काल में दिव्य ज्योति स्तिमित हो जाती है। ब्रह्म-ज्योति प्रकट होती है। मनुष्य तो साधना करता है सिद्धि हेतु। मनुष्य जब संयम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करता है, तब उसका Radiation सिमट जाता है। एकाग्रता आती है। तब वह जगत् को नहीं देखता। जगत् भी उसे नहीं देखता। अब वह क्या देखता है? देखता है अपने इष्टदेव की ज्योति। तदनन्तर उनका रूप देखता है। सर्वान्त में स्वयं देवतामय हो जाता है। क्रिया के समय साधक देवता में रहता है। अन्य समय देवता साधक में रहते हैं। जब देवता साधक में हैं, उस समय साधक योगी है। अब ब्रह्म-ज्योति प्रकट होती है।

यहाँ एक विशेष बात है। क्रिया तथा क्रिया से उपरम, दोनों की आवश्यकता है। क्रिया से तेज संग्रह होता है। जिसका तेज जितना अधिक होगा, एकाग्रता उतनी सहज होगी। अब तेजोराशि घनीभूत होकर एक होती है, (इत:स्तत: बिखरी नहीं रहती) तभी ऊर्ध्वोत्थित होती है। इसी से एकाग्रता आती है। जिसका ब्रह्मचर्य अच्छा है, बिन्दुक्षय नहीं है, जिसका उपादान जितना शुद्ध है, उसकी एकाग्रता उतनी ही सहज है। उसे अधिक क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्रिया के दो कार्य हैं। प्रथम है शुद्ध तेज का आकर्षण, द्वितीय है अशुद्ध तेज का शोधन। उच्च साधक के लिए जिसका ब्रह्मचर्य अच्छा है, उसके तेज का शोधन ही क्रिया का उद्देश्य है। सामान्य व्यक्ति के लिए शुद्ध तेज का आकर्षण करना ही क्रिया का लक्ष्य है। देह में सात्विक तेज कम होने से जैसे एक ओर चंचलता रहती है, दूसरी ओर वैसे ही लय, तन्द्रा आदि है।

इन्द्रियों की गति स्वभावत: बाहर की ओर होती है, अर्थात् अपने विलय की ओर। मन की गति होती है इन्द्रियों की ओर, आत्मा की दृष्टि होती है मन की ओर। परमात्मा की दृष्टि होती है आत्मा की ओर। इससे लगता है कि परमात्मा से एक शक्ति का स्रोत बाहर की ओर धावित होता है। विषय में भी यह प्रवणता है, इसलिए प्रकाश तथा शब्द चतुर्दिक् विकीर्ण होता है। जैसे दीपक जलाने से समस्त गृह आलोकित हो उठता है। आत्मा एक छोर पर, विषय दूसरे छोर पर। शक्ति जाती है आत्मा से अनात्मा की ओर। पुन: अनात्मा से आती है आत्मा की ओर। जो शक्ति स्रोत आत्मा से आता है, वह बाहर जाकर विषय से निर्गमित हो रहे स्रोत का स्पर्श करता है। तदनन्तर दोनों मिलकर आत्मा में लौट आते हैं। तभी विषय-ज्ञान होता है। आत्मशक्ति याद आती है। मन की जो शक्ति सुप्त थी, आत्मशक्ति के स्पर्श से वह जाग्रत् हो जाती है। यह जाग्रत् (चिदाभासमय) मन:- शक्ति इन्द्रिय से आती है। इधर विषय से जो आभा निकलती है, वह इन्द्रिय रश्मि द्वारा स्पृष्ट होती है। विषय के प्रान्तर में निवृत्ति क्रीड़ा करती है, अतएव वहाँ से विषय ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करके इन्द्रियशक्ति को लौटाता है। इस प्रतिबिम्ब में विषयाकृति रहती है, कुछ सत्त्व भी रहता है। इन्द्रियों में आकर वह मन में लगता है। साथ में विषय तथा इन्द्रियों के कुछ कण रहते हैं। वह मानसाकार हो (विषय + इन्द्रिय) आत्मा का स्पर्श करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब वह बोध का आकार ग्रहण करता है। तब प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इस आकार में मन है बोधमयता रूप में, इन्द्रियाँ रहती हैं चाक्षुषता रूप में, विषय रहता है साकारत्व रूप में।

यह जो कुछ घटित होता है, इसमें एक गम्भीर रहस्य है। आत्मा से आगत स्रोत पुनः आत्मा में लौट जाता है। तब यह चक्र पूर्ण होता है। फलतः आत्मा में आत्मदृष्टि के समक्ष एक आकार प्रतिभासित होने लगता है। यह मनोमय जगत् में रह जाता है, संस्कार रूप में। रहने पर भी यह आकार क्रमशः टूटता रहता है। आत्मशक्ति के लौटते समय मन से भी तथा इन्द्रियों से भी एक श्रोत इन टूटते कणों के साथ-साथ उठ जाता है। वह शक्तियाँ स्वभावतः अपने-अपने केन्द्र की ओर वापस जाने का प्रयत्न करती हैं। फलतः उन सब आकारों का Disruption होने लगता है।

वास्तव में देखा जाये तो चित्शक्तिरूपी चिदाकाश में सभी आकार ही चिन्मय हैं। इसलिए विशुद्ध तथा नित्य हैं। शुद्ध सत्त्व में उनकी अभिव्यक्ति होती है। वह भी एक प्रकार से नित्य है, एक प्रकार से अनित्य भी है। प्रकृति में उसकी जो अभिव्यक्ति है वह अनित्य है। आत्मा की दृष्टि के सामने के जिस आकार के सम्बन्ध में कहा गया, वह प्राकृतिक आकार है। इसलिए अनित्य है। उसे प्राकृतिक आकार कहने का यह कारण है कि आत्मा की दृष्टि अविद्या से आच्छन्न है। इस प्रकार से अनवरत संस्कार संचित होता है। वास्तव में ये सारे संस्कार सुख-दुःख के हेतु नहीं होते, बशर्ते कि मौलिक अनुभव के समय भला-बुरा लगने का भाव न रहे। अच्छा-बुरा लगते रहने से ही वह कर्म की आकृति ले लेता है। तभी सुख-दुःख की उत्पत्ति अनुभूत होती है। जब तक अविद्या और अस्मिता मूल में हैं, तब तक अच्छा-बुरा (सुख-दुःख) तो रहना ही है।

अतएव संस्कार द्विविध हैं। जो भोगमूलक है, यदि वह क्रियमाण कर्म के प्रभाव से भोगोन्मुख हो जायें, तब भोग से ही उनका Disruption होगा। क्योंकि वे परिपक्व होकर ही भोग्यफल का रूप धारण करते हैं। तब वे भोक्ता की अग्निदृष्टि से भस्म हो जाते हैं। जो संस्कार अभी भोगोन्मुख घनीभूतता को प्राप्त नहीं हैं अतः ज्ञान के सम्मुख नहीं हैं, (क्योंकि तीव्र एकाग्रता के कारण एक ओर तो उनका संस्कार घनीभूत होने लगता है, दूसरी ओर ज्ञानज्योति के द्वारा वे पक्व होने लगते हैं) वे अन्दर ही अन्दर एकत्र होते रहते हैं। जब प्राकृतिक प्रलय होता है, तब वे क्षयीभूत होते हैं। लेकिन यदि बीच में ज्ञान विकसित हो जाये, तब वे उस मनुष्य को छू भी नहीं सकते। प्रलय पर्यन्त प्रकृति में पड़े रहते हैं।

□ □ □ □

किसी प्रबल ज्योति के साथ उसकी छाया रहती है। ज्योति की प्रतिकूलता होने से ही द्वन्द्व होता है और छायापात होता है। छाया में अपना अंश भी होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्योति की अनुकूलता को स्वच्छता कहा जाता है। उस स्थिति में ज्योति अपने अन्दर चली जाती है। बाधा नहीं होती। बाधा न होने से छाया भी नहीं होती। यही देवभाव है। तभी देवताओं की छाया नहीं होती। ज्योति भी वैषम्यशक्ति है। साम्यशक्ति में छाया नहीं पड़ती। साम्यशक्ति को गति नहीं है। वह अन्धकार तथा आलोक में समभाव से रहती है। वह न तो बाधा देती है, न बाधा पाती है। देह-ज्योति को बाधा इसलिए देती है कि दोनों में विरोध है। इस विरोध के कारण संघर्ष होने का फल है छाया। यदि देह से ज्योति-कणों को लौटा दिया जा सके और पुनः ज्योति से देह के कणों को लाया जा सके, तब वह देह या ज्योति विशुद्ध होगी। तब साम्य ही रहेगा। देह और ज्योति दोनों साम्यमय।

आलोक का एक उत्स है। अन्धकार में क्या वह नहीं है? उत्स को जाने बिना छायोत्पत्ति समझ में नहीं आती। छाया पैदा होती है उत्स के विरोधी दिशा से।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारण-जगत् तथा इच्छा, ईश्वरेच्छा

अपना आदर्श कारण-जगत् (देह) में पाया जाता है। सूक्ष्म जगत् (देह) में वह अत्यन्त न्यून मिलता है। सूक्ष्म तो स्थूल-जगत् (देह) में ही सन्निहित होने के कारण स्थूल के प्रभाव में आ जाता है। जैसे मोहन नामक व्यक्ति में अत्यन्त सेवा-भाव है। वह भगवत्-सेवा पसन्द करता है, परन्तु स्थूल देह (जगत् में) में वह एक साधारण विषयी पुरुष है। सूक्ष्म-जगत् (देह) में वह मन ही मन उनकी सेवा करता है, परन्तु सभी समय उसे यह स्मरण नहीं रहता। वास्तव में हृदय से उसे संयम तथा ब्रह्मचर्य प्रिय है, परन्तु स्थूल जीवन में वह असंयत है। ऐसी अवस्था में मोहन के कारण-जगत् (देह) को देखा जाय तो वहाँ तो वह आदर्श मोहन प्रतीत होगा। वहाँ प्रतीत होगा कि वह ब्रह्मचारी-भगवान् का अनन्य तथा एकान्तिक सेवा-परायण है। उसके प्राणों की जो दृढ़तम आकांक्षा है, वह उसके कारण-जगत् में ही पूर्ण होती है। कोई बाधा वहाँ नहीं आती। समस्त बाधा स्थूल में ही है। कारण-जगत् में ही निर्मल सत्व की सत्ता एवं लीला परिदृष्ट होती है।

मनुष्य का जीवन संघर्ष से भरा पड़ा है। कारण-जगत् की अस्फुट स्मृति तथा स्थूल के बीच की प्रतिकूलता का यह संघर्ष है। जैसे कारण में भगवत्-सेवा आदि उच्च आदर्श है, परन्तु स्थूल में वह विषयी है। तब संघर्ष होगा ही। इसका, संघर्ष का मूल है कर्म। कारण-जगत् कर्म से अतीत है। मैं शुद्ध होना चाहता हूँ, फिर भी पाप करता हूँ। कर्म संस्कार जकड़ कर पापों में छोड़ देता है। परन्तु उससे अनुताप क्यों? अनुताप का कारण है कि कारण से उस शुद्ध भाव तथा आदर्श की स्मृति तो आती रहती है। जिनमें यह स्मृति नहीं आती, उनको किये पर अनुताप भी नहीं होता। हृदयाकाश स्वच्छ हो जाने पर अपना आदर्श परिलक्षित होने लगता है। हृदयाकाश पर तो आदर्श आया परन्तु बाह्य जीवन में विपरीतता है। जब यह बाह्य भी वैसा हो जाये, तब आदर्श की कुछ-न-कुछ प्राप्ति हो जाती है।

सभी स्थान में सब शक्ति है। अटल विश्वास से ही वह शक्ति प्रत्यक्ष होती है। जहाँ संशय है, वहाँ कुछ नहीं मिलेगा। संशय निगेटिव स्थिति, विश्वास पॉज़िटिव स्थिति। यहाँ शंका हो सकती है क्या आग की दाहिका-शक्ति पर मैं संशय करूँ, तब क्या आग मुझे नहीं जला देगी? संशय रहने पर भी आग जलायेगी। क्योंकि दाहिका-शक्ति जो अग्नि में है, वह स्रष्टा परमेश्वर की संकल्पजात् शक्ति है। उस संकल्पजात् को मैं साधारण जीव संशय कहके अन्यथा नहीं कर सकता। तथापि यदि मैं भी सत्य संकल्प शक्तिमान् हो जाता हूँ, तब यह विश्वास करूँ कि अग्नि नहीं जलायेगी। तब वास्तव में वह मुझे नहीं जलायेगी। यहाँ यह ज्ञात रखना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगा कि परमेश्वर की संकल्प-शक्ति दीर्घकालीन है जहाँ मेरा संकल्प दीर्घकालीन नहीं है। अतः मेरे संकल्प की विश्वास-शक्ति क्षीण होते ही अग्नि मुझे जला देगी। अतएव सिद्धान्त है कि वस्तु विश्वास से मिलती है। तर्क से दूर रहती है, क्योंकि तर्क संशयप्रधान है।

मैं अगर अग्नि में हाथ डालता हूँ और विश्वास नहीं भी करता, तब भी हाथ जलेगा। द्रव्यशक्ति बिना विचार कार्य करेगी। उसे हमारे विश्वास-अविश्वास से कोई मतलब नहीं। लेकिन ऐसी भी अवस्था है कि हाथ नहीं जलेगा। उस समय द्रव्यशक्ति (अग्नि) काम नहीं करेगी। क्यों ऐसा? प्रतिबन्धकता से? कौन-सा प्रतिबन्धक? विरुद्ध द्रव्य मेरे पास हो, मन्त्र हो, इच्छाशक्ति हो अर्थात् मूल में प्रबल विश्वास हो, तब।

द्रव्य-शक्ति भी किसी के विश्वास से ही उद्रिक्त होती है। यदि कोई प्रबल (व्यक्ति, देवता आदि) किसी द्रव्य में किसी शक्ति के होने का विश्वास करें, इच्छा करे तो उसकी अपेक्षा दुर्बल जीव के लिए वैसा ही होगा, भले ही उसका विश्वास रहे अथवा न रहे। जैसे राम बड़ा योगी है। उसने विश्वास किया आग जलाये। फलतः आग जलायेगी। मोहन उससे दुर्बल है। वह चाहे कितना विश्वास करे कि आग नहीं जलाती, तब भी वह जलायेगी। प्रबल की इच्छा से जो दाहिका-शक्ति है, दुर्बल की इच्छा से वह न तो अभिभूत होती है, न नष्ट! इसलिए मोहन अविश्वासी हो अथवा विश्वासी, आग उसे जलाकर रहेगी। लेकिन यदि वहीं गोपाल की शक्ति राम से बड़ी है तब अथवा यदि बराबर शक्ति भी हो, आग उसे नहीं जला सकती।

यहाँ एक विचित्रता है। यदि मोहन राम से श्रेष्ठ भक्त है, तब मोहन के योग में दुर्बल होने पर भी भक्ति के प्रभाव से आग उसे नहीं जला सकती। जैसे प्रह्लाद, जो भक्त होने के कारण अग्नि से नहीं जले।

इसलिए यह प्रतिपादित हो जाता है कि द्रव्यशक्ति इच्छा का फल है। दुर्बल जगत् के मंगलार्थ इच्छा से शक्तिमान् महान् लोगों ने प्रयोजनानुसार वस्तु में शक्ति का आधान कर दिया था। परन्तु यह किया गया भेद दृष्टि से। अन्यथा ईश्वर की इच्छा के समक्ष सिर झुका देने के अनन्तर और किसी की इच्छा मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु सबके लिए ऐसा मान सकना अदि दुष्कर है। सर्वत्र ही ईश्वरेच्छा मूल है—परन्तु उपाधि भी है। अतः पहली अवस्था में तो नाना इच्छाओं को माना जाता है, तथापि अन्त में 'ईश्वरेच्छा वरीयसी'। इसे ही मानना होगा। दूसरी इच्छा द्वारा इसे बदला नहीं जा सकता। क्योंकि समस्त इच्छायें उससे नीचे हैं। प्रतिबिम्ब जैसी!

ईश्वरेच्छा साधारणतः गुप्त होती है, अतएव वस्तु का यथार्थ स्वरूप गुप्त होता है। नाना इच्छायें जैसे-जैसे प्रबल होती हैं वैसे ही वे प्रतीयमान होती जाती हैं। परन्तु अन्तराल में ईश्वरेच्छाजन्य वस्तुरूप अप्रतिहत ही रह जाता है। रूपान्तर चाहे जितना हो, मूलरूप नष्ट नहीं होता। परन्तु ईश्वर स्वतन्त्र हैं, वे इच्छा बदल भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकते हैं। यदि उन्हें पूर्ण स्वतन्त्र मानें, तब तो ईश्वरेच्छा भी नहीं है। वह तो उनके स्वातन्त्र्य का विलास है। अतएव वस्तुशक्ति त्रिधा है। पूर्ण की इच्छा से जात, ईश्वर की इच्छा से जात तथा योगी की इच्छा से जात। सहजशक्ति वस्तुसृष्टि के साथ विद्यमान रहती है। वही उसकी स्वाभाविक शक्ति है। यह है ईश्वरेच्छाजन्य शक्ति। वस्तु तथा उसकी शक्ति का आविर्भाव तथा तिरोभाव साथ ही होता है। सृष्टि से प्रलय पर्यन्त जब तक वस्तु है, तब तक उसकी शक्ति भी साथ रहती है। अतः सहज-शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। आधेयशक्ति जीव कृत है। यह परवर्ती है। अल्पकाल ही रहती है। इससे लोकोपकार होता है। बड़े—महान् के संकल्प से छोटे शक्ति पाते हैं। लेकिन छोटा सा भी आधानकर्त्ता यदि बड़े के बराबर हो—तब यह शक्ति काम नहीं करेगी। तथापि जब जीव ईश्वरभावापन्न हो जाता है, तब यह सहजशक्ति उनकी अपनी इच्छा के विकासरूप हो जाती है।

फिर भी नित्य-ईश्वर और कार्य-ईश्वर की इच्छा में भेद रहता ही है। इसलिए कार्य-ईश्वर (जिसमें ईश्वर-भाव है) की इच्छा में भेद रहता ही है। अतः कार्य-ईश्वर की इच्छा से सीमित काल के लिए शक्ति भले ही स्तम्भित हो जाये, सहजशक्ति नष्ट ही नहीं हो सकती। स्तम्भन भी सर्वदेश और सर्वकालगत नहीं हो सकता। विश्वास से ही शक्ति का आधान होता है। सहजशक्ति और आधेयशक्ति न रहने पर भी विश्वास के बल पर वस्तु में अभीष्ट शक्ति का आधान होता है।

जितना भी प्रत्यक्ष क्यों न हो, विश्वास की आवश्यकता तब भी रहती है। किसी की शक्ति को देखा, उससे मेरा क्या हुआ? मेरे उद्धार की शक्ति है अथवा नहीं, कैसे जान सकूँगा? यदि कोई एक बोरी बोझ उठा सकता है, वह दो बोरी भी उठा लेगा, इसका कोई निश्चय नहीं है। और वहाँ पूर्ण शक्ति है अथवा नहीं, इसकी परीक्षा नहीं की जा सकती। मानों कहीं दया देखा, उससे क्या? मुझ पर उनकी दया होगी अथवा नहीं, कैसे पता चले? मान लिया 10 पर कृपा-दया किया है, तब भी सन्देह रह जाता है। सभी जीवों पर दया है अथवा नहीं, यह जानने का क्या कोई उपाय है? नहीं है। सर्वज्ञत्व भी यही है। जीवभाव की परीक्षा हो सकती है। भगवद्भाव की परीक्षा नहीं हो सकती। जिसे जाँच कर अथवा विचार से समझ लिया, वे तो भगवान् हो ही नहीं सकते। वे विचार-जाँच से अतीत हैं। उनको पकड़ने का साधन एकमात्र है विश्वास!

इसलिए पहले एकाग्रता, तदनन्तर निरोध, तदनन्तर ध्यान। एकाग्रता अर्थात् बिखरे कणों को एकत्र करना। एकत्र करने से वे कण सख्त हो जाते हैं। तब उन पर मन्त्र-ध्यान के आघात से चिनगारी—तेज निकलेगा। सख्त वस्तु पर आघात से ही तेज निकलेगा। अतः एकाग्रता आवश्यक है। एकाग्रतार्थ जप आवश्यक है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बीज

गुरु स्तोत्र में है—'शिवतत्त्व प्रबोधाय, ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिने'—यहाँ शिव और ब्रह्मतत्त्व में तथा प्रबोधन एवं प्रकाशन में भेद किया गया है। प्रबोधन परिणाम कर्म से होता है। प्रबुद्धता के दृढ़ होने से भाव आया यह कहते हैं। उसके अनन्तर है उसका प्रकाशन। अतएव पहला कार्य है—सुप्ति को भंग करना, जड़ता की निवृत्ति करना। इसके फल से चिन्मय भाव का विकास होता है। द्वितीय कार्य है—आवरण भंग करना। इसका फल है आवरण हट जाने पर भाव की प्रकाशमानता। कर्म करते-करते यह विकास पूर्ण हो जाता है परन्तु जब तक आवरण नहीं हटता, तब तक यह विकास अनुभूत नहीं हो सकता। जैसे मातृगर्भ में विकास। पैदा होने, भूमिष्ट होने से प्रकाश। यह स्थूल उदाहरण दिया गया। प्रकाश हुए बिना अनुभव नहीं हो सकता। विकास होने पर भी प्रकाश के अभाव में प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। विकास का कार्य 'मैकेनिकल' है। उसकी गति भी अव्याहत है। प्रतिबन्धकता के अभाव में उसका काम बेरोकटोक चलता है। बीच में प्रकाशन होने से नाना कारण से विकास का मार्ग रुक जाता है। विकास पूर्ण हो जाने पर अब प्रकाश की बाधा उसे रोक नहीं सकती, क्योंकि विकास तो हो ही गया। अब प्रकाश का क्या श्रेय?

विकास क्या है? शक्ति का क्रम-जागरण ही विकास पदवाच्य है। यह कर्म से होता है। कर्म करते-करते ज्ञान स्वयमेव आ जाता है। कर्म से होता है ज्ञान। ज्ञान का फल है प्रकाश। विकास के फल से मिलता है सद्भाव। प्रकाश के फल से मिलता है चिद्भाव। तदनन्तर है आनन्द अथवा आस्वादन। कर्म = ज्ञान-भक्ति का कर्म। आनन्द के बाद ही होती है स्वभाव स्थिति। अतः बीज चाहिये। खेत चाहिये। अन्यथा बीज के अभाव में विकास होगा किसका?

बीज से वृक्ष तदनन्तर वृक्ष से पुनः बीज। जब तक वृक्ष फलता नहीं अर्थात् उसमें फलरूपी बीज नहीं होता, तब तक वृक्ष की पूर्णता ही नहीं है। साधक के जीवन में भी यही क्रम है। बीज से ही वृक्षरूपी देवता का आविर्भाव होता है। परन्तु अभी यह देवता पूर्ण नहीं है। इसे किसी को दिया नहीं जा सकता। फिर से इसे बोया नहीं जा सका। कर्म से इस देवता में पूर्णता आती है। उसका बीज मिलता है। इस बीज को साधक के हृदय में बोया जा सकता है।

बीज के कार्य तथा कल्पना में क्या अन्तर है? बाह्य जगत् कल्पना का मूल है। जब अन्तः में आभासित होता है, तब वहीं कल्पना का उदय होता है, परन्तु अन्तर में कल्पना स्थिर रह जाती है। जैसे एक फोटो है, बस दृश्य है, लेकिन वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहाव रहित (फ्लो रहित) है। अन्तःक्षेत्र में इसे केन्द्रित करके, फोकस करके स्पष्ट कर लेते हैं। प्रत्यक्ष कर लेते हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। क्योंकि उसमें जीवन नहीं है, फ्लो नहीं है। केवल मन में आभास है। एकाग्रवत् करने से वह स्पष्ट होता है। एकाग्र करने से फ्लो आ जाता है। एकाग्रता से ही बीज को स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु उस आभास को कारण-जगत् में ले जाने से बीज मिलेगा। यह गुरुप्रदत्त कौशल से अथवा एकाग्र चिन्तन का उन्मेष होने पर ही होगा। प्रणव ही है बीजात्मक शब्द। वास्तव में बीज विशुद्ध नहीं होता। उसे भूत-आवरण से वेष्ठित किया गया होता है। अर्थात् बीज शब्द के वेष्ठन से वेष्ठित है। अतः मन भी विशुद्ध नहीं है। इसे विशुद्ध करना होगा।

जप करने से बीज मूलाधार से उत्थित होता है। उधर चैतन्य सहस्रार से उतरता है। सहस्रार चिरव्यक्त-चिरप्रकाश-प्रकाशक है। मूलाधार अव्यक्त है। बीज उठता है। क्रमशः कूटस्थ में दोनों का सम्मिलन होता है। वहीं दर्शन होता है। जिसका कूटस्थ खुल गया है, तीसरा नेत्र खुल गया है उसे एक बीज सिद्ध है। जिसकी सुषुम्णा खुल गयी है। वह किसी भी देवता का दर्शन पा सकता है, यदि उस देवता का बीज जपे। बीज गुरुदत्त होना आवश्यक है। ग्रन्थ से भी बीज लिया जा सकता है, परन्तु गुरु से लेना आवश्यक भी है। उच्चारण (जप) का अर्थ है बीज को ऊपर ले जाना। बीज जब गुरुशक्ति का सहयोग पाता है, तभी ऊपर उठेगा। यही है चक्रभेद। अव्यक्त स्तर (मूलाधार) से बीज को अभिव्यक्त करना (ऊपर उठाना) ही, षट्चक्र-भेद ही मन्त्र सिद्धि-देवदर्शन है। ब्रह्मतेज ही अव्यक्त को व्यक्त करता है। अतः ब्रह्मतेज चाहिये।

बीज को मातृका में, मातृका को नाद में, नाद को बिन्दु में लाना होगा। अव्यक्त बिन्दु व्यक्त होता है स्वभाव में। साधना का चरम है बिन्दु स्थिति। मातृका 50 है। 49 है विकृतवायु, 1 है प्रकृष्टवायु = 50। वायु तो एक है, परन्तु सप्तरश्मि भेद के कारण 7 वायु है। यह सप्तीकरण से है 7 × 7 = 49। मूल एक को मिलाकर 50। यह 50 वर्णमाला ही अ—क्ष = अक्षमाला है। यही षट्चक्र की तेजराशि भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिन्दु-कला

कला की समष्टि से बिन्दु है। नाद का घनीभूत भाव है बिन्दु। जब कला बिखरी होती है, तब नाद भी बिखरा रहता है। उसे एकत्र करने से बिन्दु है। बिन्दु का मध्य है शून्य—वहाँ है निष्कल। अर्थात् जहाँ कला नहीं है, वह निष्कल। लेकिन सूक्ष्मता की कला होती है। वह उस समय नहीं जानी जाती। शून्य का भेद होने पर उस सूक्ष्म कलामय जगत् में प्रवेश मिलता है। वहाँ भी कला समष्टि होते हुए भी बिन्दु पाया है। वहाँ जो शून्य है, वह है महाशून्य। वहाँ से निष्कल परिलक्षित होता है। इसके अनन्तर जो शून्य है, वह है अतिशून्य। यहाँ स्थिति होने पर यथार्थ निष्कलता मिलती है।

चैतन्य निष्कल तथा सकल दोनों ही है। निष्कल चैतन्य ही परमपद है। सकल चैतन्य को परमेश्वर कहते हैं। यहाँ अनन्त कला होती है महाबिन्दुरूप। ज्ञान के तथा चैतन्य के भी परमाणु हैं। जिससे जिसका उद्भव होता है, उससे ही उसका प्रकाश होता है। जिस आलोक से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, इस जगत् को केवल उसी आलोक में देखा जा सकता है। अन्य आलोक में यह जगत् दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। एक आलोक में कला देखी जाती है। दूसरे आलोक में गुण देखा जाता है। अन्य आलोक में अणु देखा जाता है।

कार्यबिन्दु अणु है। कार्य का बिन्दु उसका अणु है। इस अणु का क्रमविकास ही कार्य है। इसकी पुष्टि ही उसका जीवन है। पूर्णकल अग्नि इसमें विद्यमान है। यह अबुद्ध है, जब तक इसका अभिभव नहीं होता तब तक सृष्टि का विकास नहीं होता। इसका अभिभावक है सोम। सोम को जगाना पड़ता है। जागते ही वह स्वभावतः बहिः प्रधावित होने लगता है। फलतः सोमकला की वृद्धि के साथ-साथ अणु में पुष्टि आती-जाती है। जब सोम पूर्ण हो जाये तब जीवन भी समाप्त!

जब किसी वस्तु से आलोक का विकिरण हो, तब से सृष्टि का आरम्भ होगा। सृष्टि में सभी वस्तुओं का विकिरण है। बिन्दु यदि केवल बिन्दु हो (आलोक विकिरण न हो) तब सृष्टि नहीं। बिन्दु का अवकाश है शून्य। बिन्दु के प्रकाश-काल को लाने वाली है कालशक्ति। बिन्दु काल के ऊपर है, लेकिन काल उसका स्पर्श कर लेता है। जिससे आलोक का विकिरण नहीं होता, उससे कुछ देखा नहीं जाता। वह केवल अपने में ही रह जाता है। चारों ओर शून्य हो जाता है, महाशून्य। मूल बिन्दु है केन्द्रबिन्दु। उसके चारो ओर असंख्य बिन्दु हैं। जब वे केन्द्राभिमुखीन नहीं होते, तब तक उनका अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। यही है अद्वैतभाव—अभेद। जब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वे बिन्दु बहिर्मुखीन होते हैं, तब वे सृष्टि के अन्तर्गत हो गये। यही है द्वैतभाव = भेदभाव।

बिन्दुतत्त्व के प्रसंग में केन्द्र तथा सर्कमफरेन्स की चर्चा भी आवश्यक है। यह सब सर्किल मात्र ही रहते हैं। शक्ति क्रियाशील होने पर केन्द्र से रेडियेट करती है। जहाँ तक जाती है, उसकी सीमा ही परिधि है। यह शक्ति उठती है, अतः जो उठता है उसका अवसान भी है। यह अनन्त नहीं है। जो अनन्त है, उसमें केन्द्र, परिधि नहीं है। अतः उसमें केन्द्र से परिधि तथा परिधि से केन्द्र का रेडियेशन भी नहीं है। सर्किल जो है, वही है बिन्दु। केन्द्र का आत्मप्रकाश ही सर्किल (चक्र) है। अतः केन्द्र (सेन्टर) भी बिन्दु है। सर्किल तथा सेन्टर से अतीत ही बिन्दु से भी अतीत है। यही है अनन्त।

केन्द्र से धारा निकलती है और मुड़ती है। मुड़कर केन्द्र में लौट आती है। जहाँ से मुड़ती है वही है परिधि अथवा उसका अंश। न मुड़ने से सर्कमफरेन्स नहीं मिलता। वह सर्किल (चक्र) भी नहीं बनता। वास्तव में यदि उसे चक्र कहना पड़े, तो कहना होगा ऐसा सर्किल जिसका बिन्दु तथा परिधि खोजने पर भी नहीं मिलता। वास्तव में उस चक्र का केन्द्र भी अव्यक्त है। केन्द्र व्यक्त होने से परिधि भी व्यक्त होती है। जैसे यदि रेखा का एक छोर है, तब दूसरा भी अवश्य होगा। एक धारा केन्द्र से परिधि की ओर जाती है। यही है सृष्टि धारा-प्रवृत्ति धारा। दूसरी धारा परिधि से केन्द्र की ओर जा रही है—यही है संहार धारा अथवा निवृत्ति धारा। सीमा-बद्ध चक्र में क्रमशः ये ही दो धारायें खेलती हैं। क्रमशः जो धारा बाहर आती है, वह अनन्त तक जाकर पुनः लौटती है। जाना और लौटना साथ-साथ नहीं होता। जाने के पश्चात् लौटने की क्रिया होती है, परन्तु सामान्यतः बाह्य तथा आन्तर प्रवाह साथ चलते हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि जब एक विशिष्ट प्रवाह ही एक साथ, युगपत् सृष्टि-संहारात्मक हो तब वह स्थिति की अवस्था है। वह अनन्त प्रवाह है। वहाँ पूर्ण गति तथा पूर्ण विराम दोनों अभिन्नतया प्रतीत होता है। यही अद्वैत का रहस्य है। आन्तर तथा बाह्य की साम्यावस्था का भेद करने से ही यह रहस्य ज्ञात होगा। यह जो अनन्त चक्र (इनफिनिट सर्किल) की बात कही गयी, उसके केन्द्र एवं परिधि सब अव्यक्त हैं। उसका रेडियेशन भी असीम अबाधित है। यही है महाशक्ति। अन्य दृष्टि से कह सकते हैं कि वहाँ केन्द्र, परिधि, विकिरण नहीं है। वही है परशिव।

समस्त जगत् बिन्दु के ही अन्तर्गत है।

यहाँ पर द्वैत तथा अद्वैत की चर्चा की गयी है। द्वैत दर्शन में सम्मुख देखा जाता है। निर्गुण उपासना में यह ज्योतिर्मण्डल मात्र है। सगुणोपासना में यह है मध्यस्थ इष्टमूर्ति का मण्डल। अद्वैतदर्शन में वह मण्डल चारों ओर (अपने चारों ओर) प्रकाशमान रहता है। स्वयं को बीच केन्द्र में पाया जाता है। सभी वस्तु शून्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में तैर रही है। जैसे क - ख मान लिया चीजें हैं। सब अलग-अलग। क एक समष्टि है। उसके अवयव हैं। सभी एकरूपेण गृहीत होते हैं। शून्य भी एक ज्योति है। जब उस ज्योति का भेद किया जाता है, तब वे अवयव प्रत्यक्ष होते हैं। इस समूह या समष्टि में बहुः-अवयव हैं। वे दूर रह कर भी परस्परतः आबद्ध हैं। इन्हें कौन खींचता है? केन्द्र-न्यूक्लियस खींचता है। वही बिन्दु है।

शून्य को लेकर ही जगत् है। समष्टि तथा व्यष्टि का भेद तो दृष्टिसापेक्ष है। ग्रहण करते समय एक भाव ही रहता है। उस वस्तु को केन्द्र करके (वस्तु अर्थात् जो वास करे) दृष्टि प्रसारित करने से चतुर्दिक् शून्य ही परिलक्षित होता है। सभी के चतुर्दिक् शून्य है। समष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक अवयव शून्य में ही है। यह एक बिन्दु जो है वही अवयवी है। उसकी नाना कला अवयव है। चारो ओर शून्य बीच में भी शून्य!

मूल में एक बिन्दु है। उससे दो बिन्दु। उससे तीन बिन्दु। वास्तव में एक-दो-तीन सभी नित्य है। अभिव्यक्ति का व्यापार ही मुख्य है। इन तीन बिन्दुओं का पहला केन्द्र है आत्मा। दूसरा है विकिरण (रेडियस-देवता-शक्ति), तीसरा है परिधि अथवा भूत। दूसरा तथा तीसरा क्रियाशील है। लेकिन दूसरे की क्रिया है सरल गति। तृतीय की क्रिया है चक्राकार गति। दूसरे की गति ही तीसरे की गति के रूप में परिणत होती है। ये तीनों बिन्दु पहले एक ही भूमि में, प्लेन में एकत्र सायुज्यावस्था में एक होकर विद्यमान थे। बाद में यह विभाग हुआ। उससे तीनों प्लेन अलग हो गये अथच नित्य युक्त हैं। पहला एक बिन्दु कार्यबिन्दु रूप में बिन्दु ही रह जाता है। दूसरे जो दो बिन्दु हैं, वे सरल रेखा हो जाते हैं। तीन बिन्दु जो हैं—वे चक्राकार हो जाते हैं।

प्रथम बिन्दु—जो अक्षोभ्य है, वह है कारणबिन्दु। यह कारणबिन्दु महाकारण के साथ एकात्मक है।

दूसरा बिन्दु—यह एक सरल रेखाकार है। पहला बिन्दु ही यह आकार लेता है। इसे ज्योति अथवा कारण या देवता किंवा लिंग कहते हैं।

तीसरा बिन्दु—दूसरा बिन्दु अथवा सरल रेखा ही वक्र होकर तीसरे बिन्दु अथवा चक्ररूपेण परिवर्तित हो जाता है। साक्षात् भाव से बिन्दु वक्र रेखा नहीं होता।

पहले बिन्दु से दो प्रकार का स्फुरण होता है। (1) अपना बहुभाव, अनेक समान बिन्दु की सृष्टि। (2) दूसरे बिन्दु का आविर्भाव। दूसरे बिन्दु से भी दो प्रकार का स्फुरण होता है। यथा—

(A) सरल रेखा की प्रवृत्ति। यही है ज्योति का विकिरण तथा ज्योति का निरोध।

(B) तृतीय बिन्दु का आविर्भाव। इस तीसरे बिन्दु से भी दो प्रकार का स्फुरण होता है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(क) दक्षिणावर्त्त अथवा वामावर्त्तरूपेण वक्ररेखा आविर्भाव।

(ख) अन्धकार का आविर्भाव।

अतएव उपलब्धि होती है—

(क) निरन्तर बहुरूप में, अनन्त बिन्दु रूप में उत्सरणशील बिन्दु,

(ख) निरन्तर सरल रेखा की क्रिया-ऊर्ध्व-अध: अथवा अन्त:-बहि:,

(ग) निरन्तर आवर्त्तन या भ्रम—दक्षिणावर्त्त, वामावर्त्त,

(घ) बाहर अनन्त अन्धकार।

आगे और भी रहस्य की बात कही जा रही है।

पहले बिन्दु के स्पन्दन अथवा सेल्फ-मल्टिप्लिकेशन से दूसरे बिन्दु का आविर्भाव होता है। यह सेल्फ मल्टिप्लिकेशन खद्योत (जुगनू) जैसा है। एक बार बहुबिन्दु होना, तदनन्तर उनका एक हो जाना। ऐसा ही दूसरे स्तर में भी होता है। दो बिन्दुओं का योग ही सबसे छोटी सरल रेखा है। यहाँ निरन्तर बहुत सी सरल रेखा (प्रवृत्ति) होती हैं। साथ ही बहुत सी सरल रेखा मिलकर एक हो जाती हैं (निवृत्ति)। लक्ष्य भिन्न रहने से वक्र आवर्त्त रेखा भी बन जाती है। यही तीसरे स्तर का आविर्भाव है।

बिन्दु ही 'अहम्' है। योगी आज्ञाचक्र उत्तीर्ण करके बिन्दु में जाता है। इसी के आलोक से समस्त ब्रह्माण्ड आलोकित है। पिण्ड उसके ही अन्तर्गत है। आज्ञाचक्र-भेदन से ही इस ब्रह्माण्ड में प्रवेश होता है। यह प्रवेश ही प्रवज्या है। यही शुद्ध धाम है। क्रमश: साधक इस राज्य के मध्यबिन्दु में जाते हैं। यह मिलन, आनन्द का राज्य है। मिलन का गाढ़तर होना = एकत्व। बिन्दुभेद से ही अव्यक्त प्राप्ति। वहाँ अहं नहीं है।

कला की समष्टि ही बिन्दु है। जब तक 16 कलायें एकत्र नहीं होतीं, तब तक बिन्दु नहीं होता। 15 कलाओं से जो बिन्दु होता है, वह टूट जाता है। 16 कला वाला बिन्दु ही अमृत बिन्दु है। अन्धकार राज्य में 15 कलात्मक बिन्दु हैं। जो 16 कलात्मक बिन्दु है—वह है शुद्ध सत्व। अन्धकार का 15 कलात्मक बिन्दु है मिश्र सत्त्व। उसकी ज्योति कितनी ही शुद्ध क्यों न हो, उसमें अन्धकार रहता ही है। यह मूल वाला अन्धकार छूटता नहीं। यही है ईसाइयों द्वारा कहा जाने वाला 'ओरिजिनल सिन' मूल अविद्या आदि।

इस अन्धकार की जो केन्द्रभूमि है, वहाँ ज्योति (कला) का संचार नहीं होता। अखण्ड होने के कारण वह अंशहीन अथवा निर्गुण है। वह अन्ध तमस है। 15 कला भी वहाँ आच्छन्न हो जाती है। यही है प्रकृतिलय-जड़त्व। यही है मूल असत्। यह असत् भी निष्कल-निर्गुण है। सत् अथवा सत् वस्तु भी निष्कल-निर्गुण है। अतएव सत् तथा असत् चरम में जाकर एक हो गया। एक होने पर भी कला की ओर से ही जाना पड़ा है, ज्योति की ओर से ही जाना पड़ा है। गुण अथवा तम की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ओर से नहीं जा सकते। वस्तु जैसे ज्योति एवं कला नहीं है (चरम में), वैसे ही अवस्तु भी अन्धकार नहीं है। वस्तु ज्योति की पूर्णता में ज्योति के अतीत है। वहाँ अन्धकार की सम्भावना नहीं है। गुण या अन्धकार पूर्ण होने पर भी Transcendent रहता है। कला अथवा ज्योति भी पूर्णता में Transcendent ही रहती है। अभी जो 15 कलात्मक बिन्दु ऊपर कहा गया, वही चित्त अथवा मन है। अतः इसमें कुछ अन्धकार रहेगा ही। मार्जन चाहे जितना हो।

ज्ञान लाभ से पूर्व योगसाधना नहीं हो सकती। शुद्ध कलात्मक बिन्दु के संसर्गाभाव में शुद्ध कला नहीं मिलती। यदि ज्ञान लाभ से पूर्व मन्थन से 15 कलात्मक बिन्दु का शोधन भले ही हो जाये, फिर भी उसमें मूल मल अथवा मूल अन्धकार रहेगा ही। इसलिए जो कुछ हटा है, उसका कोई मूल्य नहीं है। जो हटेगा, उसकी आपूर्ति पुनः हो सकती है। यही साधारण पुण्य कर्म है, जिसमें मूल मल रह जाता है, तथापि ऊर्ध्वगति होती है। परन्तु पुनः उतर आता है। वास्तविक विकास नहीं होता। फल स्थायी नहीं होता। परन्तु ज्ञान लाभ के बाद जो कुछ परिश्रम हो वह सार्थक होता है। तब 15 कला पूर्ण होकर षोडशी में परिणत होती है। यही है अमृतबिन्दु।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देह तथा कारण-जगत्

स्थूल देह की भिन्न-भिन्न अवस्था को हम देखते हैं। इसके पीछे एक परसिस्टेन्ट देह है। वही है मौलिक स्थूल देह। यह देह पिछले जन्म की मृत्यु के समय अभिव्यक्त हुआ। प्रारब्ध निर्माण के समय पितृलोक में इसका स्फुरण होता है। यह सामान्यत: किसी को दिखलाई नहीं पड़ता (ज्ञाननेत्र से यह मौलिक स्थूल देह प्रत्यक्ष होता है)।

मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति पितृलोक गया। वहाँ छोड़ी सामान्य स्थूल देह लेकर ही घूम रहा है। जैसे मोहन स्वर्ग जाने के समय पितृलोक की ज्योति में लीन होता है। अब कर्म द्वारा निर्मित स्वर्गीय देह तैयार है उसमें प्रवेश होता है। स्वर्ग-भोग समाप्त होने पर पितृलोक में आने पर स्वर्गीय देह अब मोहन की देह का आकार लेता है। अब वह मृत्युलोक में आने पर उसी सामान्य स्थूल देह (मौलिक स्थूल देह) लेकर घूमता है। उसका पितृलोक वाला देह पितृलोक में लीन हो जाता है। अब वह मौलिक स्थूल देह को लेकर मातृ-गर्भ में प्रवेश करता है।

स्थूल का रेडियेशन पितृलोक पर्यन्त है। पितृलोक से ही ज्योति स्थूलाकार होती है, रहती है और लीन होती है। लिंग का रेडियेशन और भी व्यापक है। ब्रह्मलोक तक वहाँ की ज्योति से ही लिंगदेह तैयार होता है। उसी में लीन हो जाता है। कारण का रेडियेशन व्यापकतम है। उसकी उत्पत्ति कारणज्योति से होती है। वहीं स्थिति रहती है, वहीं विलीन हो जाता है। जिस ज्योति में कारण-जगत् भासमान है, वही है कारणज्योति। उसी ज्योति में वह जगत् लीन तथा सृष्ट होता है। उसकी साकार स्थिति में ही कारणदेह का अवस्थान है।

स्थूल देही का सम्बन्ध सदा कारण एवं सूक्ष्म से है। सूक्ष्म ज्योति से ही स्थूल देह चलती है। परन्तु यह ज्योति बिखरी है। यह ज्योति ही स्थूल में सूक्ष्म को जगाती है। षट्चक्र खुलता है। एकाग्रता होती है, तृतीय नेत्र खुल जाता है। स्थूल देह ही पिण्ड है। देहात्मबोधावस्था में ज्ञानगोचर सब कुछ पिण्डान्तर्गत ही है। यह जगत् (स्थूल), यह स्थूल मैं, इन्द्रियगोचर सब कुछ, इसी के अन्तर्गत है। स्थूल देह से बाहर होने पर ब्रह्माण्ड में प्रवेश मिलता है। वास्तव में यह स्थूल जगत् से निष्क्रमण है। तब देहात्म-बोध, इन्द्रियज दर्शन नहीं रहता। अपनी देह भी ब्रह्माण्डान्तर्गत होती है। वास्तव में उस समय अपनी देह नहीं रहती। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि ब्रह्माण्ड के निम्नस्तर में स्थूल उपादान कुछ रह जाता है। इसलिए आभासरूपेण अपनी तत्कालीन देह पहचानी जाती है। लेकिन वह ऊर्ध्वस्तर में नहीं जाती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सूक्ष्म देह शरीर से (स्थूल देह से) निकल जाती है। यह सूक्ष्म देह हाथ-पैर युक्त प्रतीत होती है। साधक जब (स्थूल शरीर में रहते ही) एकाग्र होता है, तब समस्त शरीर का तेज संकुचित होकर बिन्दुरूप धारण करके बाहर निकल जाता है, परन्तु उसका आकार अपने स्थूल शरीर जैसा ही रहता है। बाहर होकर भी हमेशा स्थूल शरीर के साथ एक सूत्र से जुड़ा रहता है। सूक्ष्म शरीर बाहर आकर फैल जाता है। पुनः जब स्थूल देह में प्रवेश करने लगता है, तब बिन्दुरूप होकर अन्दर जाता है।

यदि वह आज्ञाचक्र से अथवा मूर्द्धा से बहिर्गत होता है, तब बाह्य आकाश को ज्योतिर्मय पायेगा। परन्तु यदि भीतर मलरहित और शुद्ध तथा ज्योतिर्मय होने के पहले ही मरण अथवा स्वप्न में बाहर आता है, तब वह बाहरी आकाश को अन्धकारमय पायेगा। जिस भाव से बाहर निकलता है, बाहर आने पर वैसा ही देखता है।

मनुष्य मृत्यु के अनन्तर पितृलोक में जाता है। यह स्वर्ग अथवा नरक नहीं हैं। यहीं से उसकी कर्मानुसार उच्च अथवा निम्न गति होती है। मनुष्य में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है। जब मनुष्य कार्य करना चाहता है, तब उसके विचार का मूल इच्छा हो सकती हैं, नहीं भी हो सकती। ज्ञान के बल से वह चिन्ता कर सकता है तथा सत्य एवं मंगल को समझ सकता है। मनुष्य की इच्छा जन्म से Evil से आकृष्ट रहती है। तभी वह केवल अपना भला (सामान्यतः) चाहता है। स्वार्थभाव की इच्छा का संशोधन आवश्यक है। प्रारम्भ में वह अपनी स्वेच्छा से सत्यचिन्ता नहीं करता, परन्तु क्रमशः (सत्संग आदि से) उसमें ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है। अब उसका ज्ञान विश्वास में बदलने लगता है। चिन्तना भी प्रेम में परिणत होने लगती है। इससे मनुष्य के स्वरूप में स्वर्ग का विकास होने लगता है। स्वर्ग अर्थात् सत्य एवं मंगल का मिलन। इसके विपरीत जब ज्ञान को मिथ्या तथा इच्छा को Evil मिले, तब व्यक्ति नरकगामी होगा। जब तक ज्ञान को सत्य और इच्छा को सु + भाव नहीं मिलता, तब तक मनुष्य मध्यावस्था में रहता है, पितृलोक में रहता है।

स्वर्ग में एकाग्रता है, नरक में भी एकाग्रता है। वहाँ किसी का विभक्त विचार नहीं है। अर्थात् वहाँ जो रहता है, वह जैसा समझता है उसी प्रकार से काम करता है। ज्ञान तथा क्रिया मिले रहते हैं। वह जो समझता है, वही करता है। आजकल जगत् में मर्त्यलोक से सीधे स्वर्ग में कोई नहीं जाता। नरक भी सीधे नहीं जाता, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति मिश्र है। मनुष्य पहले पितृलोक में रहता है। वहाँ से जिनको स्वर्ग में लेना होता है, उनमें सत्य तथा मंगल की योजना होती है। जो नरक में जायेंगे, उनमें मिथ्या और अमंगल की योजना होती है। पितृलोक में असंख्य जीव हैं, क्योंकि वहाँ सभी को जाना है। वहीं सबकी परीक्षा होती है। कोई वहाँ पहुँचते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही स्वर्ग जाता है, अथवा नरक जाता है। कोई कुछ सप्ताह रहता है, कोई वर्षों। तथापि वहाँ कोई भी 30 वर्ष से अधिक नहीं रहता।

यह जड़देह मैथुनजन्य है। यह बिन्दु की अधोगति से उत्पन्न होता है। काम-सम्बन्ध से बिन्दु अधोगामी होता है। अतः यह जड़देह है कामदेह। यह स्वभावतः अशुचि-मलिन है। तभी इसमें मूँछ-दाढ़ी आदि है। यह सब कामजन्य है। इस देह में काल या अग्नि की क्रिया सदैव खेलती है। जो देह काम-सम्बन्ध से नहीं होता, वह है विशुद्ध ज्ञानदेह। वह औपपादिक है। मैथुन्यजन्य नहीं है। वह भाररहित ज्योतिर्मय होता है। वही है सिद्धदेह। बिन्दु के ऊर्ध्व संचार से जो देह होता है—वह है भावदेह। उसमें काम नहीं है। ज्ञान तथा ज्योति भी नहीं है। वह भावमय, ज्योतिर्हीन तथा अरूप एवं लीला-विग्रह है। प्रथम स्थर है कामलोक, द्वितीय है रूपलोक, तृतीय है अरूपलोक। कामलोक में ही मृत्यु है। उसे पार करने पर है शुद्ध-निष्काम ज्योतिर्मय चिदाकाश। यही रूपलोक है। वहाँ सिद्धदेह है। रूप स्तर में कैवल्य है। कैवल्य के उस पार अरूप-धाम है। उसकी सीमा है महासुख या रससमुद्र।

अब देहतत्त्व का विचार करना है। सर्वप्रथम है कारण = भाव, जो मनुष्य में स्वप्नरहित निद्राकाल में प्रकाशित होता है। उस समय प्राण के जाग्रत् रहने से जीवन है। मन तथा इन्द्रियाँ निद्रित हैं। तब अभिमान कारणदेह का आश्रय करके रहता है। यदि अभिमान नहीं है, तब भाव रहेगा ही नहीं! भाव के अतीत। कारण-भूमि इच्छामय है।

द्वितीय है लिंग = ज्ञान, जो स्वप्नावस्था में प्रकट होता है। उस समय प्राण रहता है, मन भी जगा रहता है। वास्तव में प्राण की चलनावस्था है मन। इसी से स्वप्न अथवा स्वप्नवत् स्थिति का बोध होता है। इस समय इन्द्रियाँ निद्रित रहती हैं। अभिमान लिंहदेह का आश्रय लिये रहता है।

तृतीय है स्थूल, जो जाग्रदावस्था में प्रकट होता है। अब इन्द्रियाँ, प्राण, मन तीनों जगे हैं। प्राण के चलन से अनेक आकारों में विषय-प्रतिभास होता है। यह है इन्द्रिय का कार्य। अभिमान स्थूल देह का आश्रय लिये रहता है। स्थूल देह से अतीत होने के लिए इन्द्रियों की सुप्ति आवश्यक है। भिन्न दिशाओं में संचरणशील इन्द्रिय-प्रवाह को समेट कर एक स्थान पर लाने से स्थूल देह का बोध नहीं रह जाता। एकाग्रता की पूर्णता से एक ज्योति प्रकट होती है। यह है शुद्ध मन। इसके चारो ओर एक शुद्ध ज्योति बिखरी अनुभूत होती है।

इन्द्रियों से जैसे यह विषयात्मक जगत् परिलक्षित होता है, वैसे ही शुद्ध मन से व्यापक ज्योति दिखलाई पड़ती है। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि यह ज्योति कहाँ से आ रही है। तब ज्योति है दृश्य तथा मन ही आत्मा है, द्रष्टा है। इस स्थिति में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं। यहाँ भौतिक जगत् नहीं लक्षित होता। यह ज्योति वास्तव में भाव का ही बाह्य प्रकाश है।

जब मन स्तम्भित है तथा प्राण जाग रहा है, तब आभिमान कारणदेह का आश्रय लिये रहता है। अब प्राण ही आत्मा है। द्रष्टा एवं दृश्य है भावराशि। द्रष्टा भावमय-दृश्य भावमय। प्रतिभास रूप से जो परिलक्षित था, वह भाव की ही स्फूर्ति है। ऐसा प्रतीत होता है। यह भाव ही बीज या इच्छा का रूप है। यही कारण है। इस अवस्था में मन निष्क्रिय होता है, केवल प्राण काम करता है। यह जगत् ही भावमय, बीजमय तथा कारणमय है। जीव में ऐसी कोई क्षमता नहीं है कि वह कारण-जगत् को पार कर सके।

कारण-जगत् में जो वायु बहती है, उसी में कारण तरंगित होता है। यह हवा क्या है? स्वेच्छा-स्वभाव। फलस्वरूप भाव की लहर उठकर लिंग (सूक्ष्म) में गिरती है। लिंग को चालित करती है। मन के सचल होने से ज्ञानोदय होता है। यहाँ अनेक प्रकार की जो चिन्ता अनजाने व्यापती है, (अचेतन मन की) यही उसका कारण है। यदि कारण से चिन्ता का बीज न उतरे तब स्थूल वायु के कम्पन से मन में चिन्ता नहीं उठ सकती। तदनन्तर उद्दीपन से वह सब अंकुरित होकर चिन्ता का आकार धारण करता है।

सबके बाहर का यह जगत् का भूताकाश तमोमय है। इसी से स्थूल की सृष्टि होती है और इसी में स्थूल का लय भी हो जाता है। इन्द्रियोंपहित द्रष्टा जो भी दृश्य देखता है, वह इस आकाश का कम्पनजन्य आकार है। यही आकाश का विकार है। यही आकाश ही तमोपिहित सत्त्व है, हमारा दृश्यमान जगत् या विषय है। इन्द्रियों को समेट कर एक स्थान पर संयत करने से यदि बोध न रहे, तब जो अवस्था होती है—वही है इस आकाश का रूप। यही है अचेतन मूल सत्ता। यदि संहत करने से बोध टूटे, ज्योति उद्भूत हो तब एक चेतन प्रकाश जाग जाता है। तब इन्द्रियाँ उस प्रकाश में विलीन हो जाती हैं। वही मन है। इस इन्द्रियहीन मन से बाहर लक्ष्य करने से एक बिखरा प्रकाश दिखलाई देता है। यही अन्तराकाश या दहराकाश है। इसकी भी दो अवस्था है। एक अवस्था में इस ज्योति में निरन्तर भिन्न-भिन्न सत्ता परिलक्षित होती है। आती है, पुनः खो जाती है। कौन-सी कब आती है, क्यों आती है—पता नहीं चलता। पता नहीं कब खो जाती है। यह सब निरन्तर होता दिखलाई पड़ता है। ये सब दृश्य ज्ञानमय हैं।

यह दृश्य तथा हमारी स्थूलावस्था के दृश्यमान दृश्य एक प्रकार के नहीं हैं। भौतिक दृश्य अँधेरे में (ज्ञानान्धकार में) आ जाते हैं। अवश्य ही वे भी आलोक का आभास देते हैं। यह आलोक अन्धकार को चीरकर बाहर आता है। वह अन्धकार को अपनी शक्ति के अनुसार दूर करता है। इसी कारण स्थूल जगत् में अन्धकार तथा प्रकाश पृथक् रहते हैं। तभी दिन तथा रात पृथक् हैं। आलोक में दृश्य प्रकट रहता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, अन्धकार में ढँक जाता है। प्रातिभासिक दृश्य भी आलोक में ही देखा जाता है, पर उस आलोक के प्रतियोगी रूप में वहाँ अन्धकार नहीं है। अतएव सूक्ष्म में रात-दिन का भेद नहीं है। वहाँ सदैव एक ही आलोक खेलता है। उस आलोक का उदयास्त समझ में नहीं आता। एक बिखरा प्रकाश सर्वत्र रह जाता है। वहाँ ग्रह-नक्षत्र-सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि ज्योतिष्कों से प्रकाश नहीं आता। वास्तव में वे समस्त ज्योतिष्क स्थूल जगत् के हैं। सूक्ष्म का यह प्रकाश कहाँ से आ रहा है, यह पहले ज्ञात नहीं होता। वह आकाश प्रकाशमय है, प्रत्येक वस्तु ही प्रकाशमय है। बाह्य प्रकाश से कुछ भी देखना नहीं पड़ता। प्रत्येक के भीतर प्रकाश है। द्रष्टा भी वैसा ही है। वह भी इन्द्रियों का सहारा नहीं लेता। इन्द्रियों से देखने हेतु बाह्य प्रकाश चाहिये।

अन्तर्जगत् में दो अवस्था रहती है। एक में अन्तराकाश में—प्रकाशमय अन्तराकाश में, दर्पण के प्रतिबिम्बवत् दृश्यसमूह तैरने लगते हैं, फिर खो जाते हैं, फिर आ जाते हैं, यह निरन्तर चलता रहता है। दूसरी अवस्था में कोई दृश्य नहीं आता। केवल ज्योतिस्वरूप अन्तराकाश ही प्रकाशित होता है। यह स्थूलाकाश तम, जड़ तथा स्थूल सर्ग के कारण जैसे अन्धकारमय है, अन्तराकाश उसी प्रकार से सत्त्व, चेतन तथा सूक्ष्म सर्ग के कारण आलोकमय है। भौतिक सर्ग बाह्य आकाश में होता है, उसी में रहता है तथा उसी में लीन हो जाता है। चैत्तिक सर्ग अथवा चिन्ताराशि किंवा प्रातिभासिक दृश्य अन्तराकाश में होते हैं। उसी से प्रकाश पाकर उसी में प्रविलीन हो जाते हैं।

अतः यह जान लेना होगा कि जैसे मैं बाह्य सृष्टि नहीं करता, वैसे ही आभ्यन्तरीण सर्ग भी मैं नहीं करता। मैं केवल देखता हूँ। बाह्य सृष्टि भी इसी कारण मेरी भोग्य है। आन्तर सृष्टि भी मेरी भोग्य है। मैं दोनों का भोक्ता हूँ। शुद्ध द्रष्टा नहीं हूँ। अतः मेरा कर्त्तृत्व नहीं है। विशुद्ध भोक्तृत्व भी नहीं है। जैसे स्वप्न मैं अपनी इच्छा से नहीं देखता, ध्यान में दृश्य-रूप आदि मेरी इच्छा के अनुसार नहीं आते—उसी प्रकार चैत्तिक सर्ग भी मेरी इच्छा के अधीन नहीं है। अन्तराकाश में न जाने क्या स्फुटित होता है, पुनः खो जाता है। कुछ भी मेरी इच्छानुसार नहीं होता। बाह्य जगत् में भी ऐसा है। सृष्टि होती जा रही है, परन्तु मेरी इच्छा के अनुरूप-फलस्वरूप नहीं हो रही है। अब भी सृष्टि-रहस्य समझ में नहीं आया। कारण-जगत् में गये बिना सृष्टि मूल नहीं मिलता। वहाँ सृष्टि का मूल है। जैसे बहिर्जगत् के मूल में जड़ अथवा अन्धकार है, अन्तर्जगत् के मूल में वैसे ही चेतन अथवा प्रकाश है। स्थूल सृष्टि धीरे-धीरे अन्धकार से स्फुरित होती है। इसी प्रकार प्रकाश से क्रमशः अन्तर्जगत् स्फुरित होता है। तभी अन्तर्जगत् में प्रवेश करने पर साधक पहले ज्योति देखता है।

अब कारण-जगत् में प्रवेश करने का प्रयत्न हो रहा है। मात्र इन्द्रियों का प्रत्याहार करने से ही अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं मिलता। ज्योति भी विकसित नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती। प्रत्याहार का फल विशुद्ध जड़त्व भी हो सकता है। (प्रत्याहार के पूर्व अशुद्ध जड़त्व था)। यदि प्रज्ञा का बीज (श्रद्धा तथा कृपाशक्ति गुरु की) इन्द्रियों में आ सके, ज्ञानबीज यदि इन्द्रिय क्षेत्र में बोया जा सके (दीक्षा से), तभी प्रज्ञा ज्योति विकसित होगी। अब विशुद्ध जड़त्व (जड़ समाधि) नहीं होगा।

इसलिए अन्तर्जगत् की दीक्षा (शक्ति-संचार) के अभाव में अन्तर्जगत् में प्रवेश नहीं मिल सकता। यदि कारण-जगत् की दीक्षा (शक्तिपात्) न हो तब केवल इन्द्रियरहित मन को एकाग्र करने मात्र से वहाँ प्रवेश नहीं मिल सकेगा। केवल ज्योतिदर्शन ही हो सकेगा। इसके आगे नहीं बढ़ सकते। परन्तु यदि शक्तिपात दीक्षा हो और इन्द्रिय-शून्य मन भी एकाग्र हो, तब तत्काल भावोपलब्धि होगी। यही है स्वभाव, जीव का स्वरूप। तब प्रथमतः सर्वव्यापक एक विशाल-अनन्त भावमय सत्ता ही आनन्दरूपेण उपलब्ध होती है। अपने भाव तथा अन्य भाव में पार्थक्य नहीं रहता। बाद में अपना-अपना भाव फूट उठता है। उस समय अनन्त प्रकार के आस्वादन प्रतिक्षण नव-नव रूप में उन्मिषित होते रहते हैं।

स्थूल जगत् प्रत्येक द्रष्टा के लिए पृथक् होता है। अन्तर्जगत् भी प्रत्येक द्रष्टा के लिए पृथक् है। भाव जगत् के साथ ही यही बात है। भावाकाश का स्पन्दन ही इच्छा-बीज तथा आविर्भाव का स्थल है। भावद्रष्टा भी प्रकृतद्रष्टा नहीं है। नित्य नये भावों का वह सम्भोग ही कर सकता है, परन्तु यह नहीं जान सकता कि भाव क्यों और कैसे फूट रहे हैं? भाव ही बीज या कारण है। बीजमन्त्र के बल से भाव विकसित होते हैं। मन्त्र भावातीत नहीं कर सकता। कोई भी साधना भाव से अतीत नहीं कर सकती। अपना जो भाव है वही है इष्ट। कारण-जगत् ही इष्ट का स्वधाम है। उपास्य लोक है। कारण में चिदंश-अचिदंश उभय है। अचिदंश बीज है। चिदंश है फल। अचिदंश से निरन्तर जीव उत्पन्न हो रहे हैं, कर्मभूमि में पड़ रहे हैं। लेकिन चिदंश से जीव नहीं आते, अवतार आते हैं। कारणवासी सभी भावदेह धारी हैं। ये चिदाकाश में ही रहते हैं। अन्तराकाश में सूक्ष्म जगत् रहता है और इस जगत् के महाकाश में स्थूल जगत् है।

इस दृष्टिकोण से व्यक्ति के तीन जन्म का पता चलता है। पहला है, अज्ञान में जन्म। यही स्थूल जन्म है। यह तमोगर्भ का जन्म है। इस तम से स्थूल देह प्राप्त होता है। मृत्यु के अनन्तर पुनः उसी तमोगर्भ में जा डूबता है। तदनन्तर उस तमः से ही जन्म होता है। पहले वाले इस जन्म में इसके मण्डल में इन्द्रियों से बाहर जाना सम्भव नहीं है। यही कर्मभूमि है। ज्ञान के जन्म के बिना (द्वितीय जन्म के बिना) इसके बाहर नहीं जा सकते।

द्वितीय जन्म है सूक्ष्म जन्म, ज्ञान में जन्म। ज्ञान से सूक्ष्मदेह (ज्ञानदेह) मिलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीय जन्म है भाव में। यह कारणजन्म है। इससे जो देह मिलता है, वह भावदेह है।

अज्ञान—जड़त्व से इन्द्रिय-विकास की स्थूल देह प्राप्त होती है। इन्द्रियों के लुप्त होने से (मृत्यु से) पुनः अज्ञान में लय होता है। उसी अज्ञान से पुनः इन्द्रियाँ स्फुरित होती हैं (पुनर्जन्म)। इस अज्ञान में जो स्वप्नोदय होता है, वही है स्वर्ग-नरकादि पारलौकिक अनुभूति। जो मृत्यु काल में घोर सुषुप्ति में डूबे रहते हैं, वे न तो स्वर्ग जाते हैं, न नरक जाते हैं। मूर्च्छित जैसे रहते हैं—बाद में जन्म लेते हैं। यह स्थूल जगत् तभी पार हो सकेगा, जब गुरु ने ज्ञानबीज दिया हो। सत्य ज्ञान के क्षेत्र में इन्द्रियों के एकाग्र होकर निरुद्ध होते ही एक ओर जैसे जीव ज्ञानदेहीरूपेण आविर्भूत होता है, दूसरी ओर वैसे ही विराट् ज्ञान के आलोक में सूक्ष्म तथा प्रतिभासमय जगत् भी प्रकाशित हो जाता है। जन्म-मृत्यु स्थूल की ही क्रीड़ा है। ज्ञानजगत् में उन्नीत होने से जन्म तथा मृत्यु उच्छिन्न हो जाते हैं। ज्ञानदेही कौन है ? आत्मा का इन्द्रियहीन मन में प्रविष्ट होना तथा उसी में अहं अभिमान होना ही ज्ञानदेह है।

सामान्य व्यक्ति मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग-नरक का अनुभव जिस देह से करता है वह, तथा ज्ञानी जब स्थूलदेह त्याग कर सूक्ष्म जगत् का अनुभव जिस देह से करता है, ये दोनों देह एक प्रकार के नहीं हैं। दोनों ही लिंगदेह हैं, तथापि पहली देह में ज्ञानालोक नहीं है, अतएव उसमें स्वप्नवत् इन्द्रिय क्रिया हो रही है। दूसरी देह ज्ञानमय तथा इन्द्रियरहित शुद्ध मनोमयी है। पहले देह में जिस स्वर्ग-नरकमय जगत् का अनुभव होता है—वह है सब्जेक्टिव—स्वाप्निक। दूसरे देह से जिस जगत् का दर्शन होता है, वह है सत्य (सूक्ष्म) तथा ऑब्जेक्टिव। यद्यपि स्वर्ग-नरक स्वाप्निक हैं, तथापि वे सामान्य स्वप्नवत् नहीं हैं। क्योंकि जिस निद्रा में स्वप्न देखा जाता है—वह, और जिस महानिद्रा में स्वर्गादि का दर्शन होता है—दोनों एक जैसे नहीं हैं।

कारण से ज्योति बाहर आ रही है। कारण-जगत् ज्योति से ही घिरा है। ज्योति के बाहर है नाद। दोनों ही सूक्ष्मस्तर के अन्तर्गत हैं। इन्द्रियों का कार्य बन्द हो जाने पर भी यदि चैतन्य रहता है, तब जो शब्द श्रुतिगोचर होता है—वह है चेतन शब्द। यहाँ यह भेद है कि इन्द्रियों का कार्य बन्द होने के साथ ही यदि अज्ञान आये, तब जड़त्व आता है। इस चेतन शब्द में एक आनन्द है। शब्द की पृष्ठभूमि में जो प्रकाश है, वह शब्द का अनुसरण करने से प्राप्त होगा। प्रकाश का भेद करते-करते रूप विकसित हो जाता है। सामान्यतः शब्द पर्यन्त ही मन है। प्रकाश विकसित होते ही मन उसमें प्रविलीन हो जाता है। शब्द-श्रवण से मन सूक्ष्म तथा एकाग्र हो जाता है। क्रमशः सूक्ष्म होता रहता है। तदनन्तर निरुद्ध होते ही ज्योति आविर्भूत होती है। तब मन स्वयं ज्योतिर्मय होता है। यद्यपि इसमें समय लगेगा। तब मन भी ज्योति है। व्यापक ज्योति भी ज्योति है। दोनों का अन्तर समझ में आने लगता है। ज्योति में ज्योति तैरती है, डूबती है, चलती है—यह प्रत्यक्ष होने लगता है। क्रमशः उभय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्योति (मन की ज्योति तथा व्यापक ज्योति) के एक हो जाने पर मन को पकड़ा नहीं जा सकता। कुछ लोग इसे मुक्ति मानते हैं।

शब्द सुनते-सुनते मन सूक्ष्म होता रहता है। अर्थात् मन की अशुद्धि जाती रहती है। सूक्ष्मतम मन अर्थात् मन का परमाणु। इस अवस्था में जो शब्द सुना जाता है, वह शब्द की चरमावस्था है। इसके अनन्तर शब्द है ही नहीं। मन का निरोध तथा शब्दातीत ज्योति का विकास समकालीन है। लेकिन ज्योति की पूर्णता होने में भी समय लगता है। मन की निवृत्ति में भी समय लगता है। ज्योति पूर्ण हो जाने पर मन नहीं रहता। मात्र शुद्ध ज्योति ही रहती है। लेकिन उसका व्यक्त रूप नहीं रहता, इसलिए उसे सामान्यतः ज्योति नहीं कह सकते। मन जैसे-जैसे सूक्ष्म होने लगता है, शब्द भी वैसे-वैसे सूक्ष्म होता है। शब्द उठता है मूलाधार से और क्रमशः चेतन होते-होते सहस्रार में लीन होता है। शब्द जितना ही ऊर्ध्वोत्थित होगा—उतना ही सूक्ष्म तथा चेतन होता जायेगा। तदनन्तर मन तथा शब्द एक साथ ही निवृत्त होते हैं। यही है चैतन्यावस्था।

शब्द ही सृष्टि का बीज है। चेतन उसका फल है। दोनों ही कारण-अवस्था है। अर्थात् कारण-जगत् के अचित्-अंश से निरन्तर नाद निकलता रहता है और स्वभाव के स्रोत से चित्त-अंश में जाकर लीन हो जाता है। शब्द चिदाकाश से, अन्तराकाश से तथा भूताकाश से उठता है। चिदाकाश से जो शब्द उठता है वही चैतन्यधारा अथवा ज्योति अथवा पश्यन्ति शब्द है। अन्तराकाश से उठा शब्द है मध्यमा शब्द, भूताकाश से उठा शब्द वैखरी है।

बाह्य जगत् में भी एक ही आधार से सभी शब्द उत्थित होते हैं। वायु की विभिन्नता से शब्द अनेक प्रकार का हो जाता है। बाह्य आकाश को कम्पित करने वाला कौन है? अन्तराकाश का कम्पन इसे कम्पित करता है। अर्थात् संकल्प अथवा मध्यमावाक्। यह अन्तराकाश किससे कम्पित किया जाता है? भूताकाश की तरंग से। भूताकाश को कौन कम्पित करता है? भाव की तरंग से संकल्प उदित होता है। संकल्प से भूताकाश कम्पित होता है।

कारण से जो प्रभा चतुर्दिक् विच्छिन्न हो रही है, वही है व्यापक लिंग-ज्योति। जब तक सृष्टि है, तब तक यह भी है। प्रलय में यह उपसंहृत हो जाती है। कारण में लीन होती है। विशिष्ट सृष्टि इस ज्योति की विषमता से अथवा तरंग से उद्‌भूत होती है। इस ज्योति में सृष्टि के सभी प्रकार के लिंग विद्यमान हैं। कारण में इच्छा या प्रयोजन के उठने से ही कारण के शान्त अन्तःस्थल में एक तरंग तरंगायित होती है। इसी के साथ कारण का वह अंश लिंगरूप में परिवर्तित होकर उतर पड़ता है और व्यापक ज्योति का आश्रय लेता है, और वहाँ चक्रमण करते-करते सुविधाजनक क्षेत्र मिल जाते ही स्थूल में उतर आता है। प्रकारान्तर से स्थूल से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृथक् होते ही उस व्यापक ज्योति में प्रवेश मिलता है। वह व्यापक ज्योति ही अन्तराकाश है।

सभी देह में शक्ति का केन्द्र है। स्थूल देह में इन्द्रियाँ हैं, लिंगदेह में अन्तःकरण आदि है। कारणदेह में भाव है। ये सभी शक्ति के केन्द्र हैं। इसी राह से शक्ति बहिर्गत होती है और अन्दर आती है। अपना कुछ चला जाता है—बाहर का कुछ आता है। यही व्यवहार है आदान-प्रदान। यह जो आदान-प्रदान है, मूल में वह स्वाभाविक है। इसका बीज है भाव। साम्यच्युत अवस्था ही भाव है। यह दो प्रकार की है—एक ऋण, एक धन। मैं यदि स्वयं को दीन-प्रार्थी समझता हूँ, तब यह एक श्रेणी का भाव है। यदि मैं स्वयं को दाता-दयामय मानूँ, तब यह अन्य श्रेणी का भाव है। जो दयामय हैं, वे इसी अन्य श्रेणी की विशिष्टता वाले हैं। जो दीन-प्रार्थी हैं, ऐसे सकाम जीव मात्र प्रथम श्रेणी वाले हैं। अब यदि प्रथम श्रेणी वाले का साक्षात्कार द्वितीय वाली श्रेणी के जीव से होता है, तब द्वितीय से प्रथम में कुछ आता है और प्रथम से द्वितीय में कुछ जाता है। साम्य-स्थापन की चेष्टा होती है यह जगत्-रक्षा का व्यापार विशेष है। साक्षात्कार तथा संग का यही फल है। दयाहीन महापुरुष जगत् में नहीं रह सकते। यदि दया नहीं है, तब ऐसे महापुरुष केवली होंगे। तब वे महापुरुष हैं ही नहीं। जगत् में दुःखी तथा दयालु के अतिरिक्त किसी के लिए स्थान नहीं है। दयालु जगत् से अतीत होकर भी जगत् में रहते हैं। दुःख दूर करने के लिए रहते हैं, साम्य-प्राप्ति की आशा में।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मज्ञान - आत्मगति

शक्ति जगे बिना आत्मा अव्यक्त रहता है। शक्ति के जाग्रत् होने से यह व्यक्त होता है। आत्मज्ञान है आत्मा का धर्मज्ञान। यह मन के आघात से आत्मा में उन्मेष प्राप्त करता है। मानस ज्ञान है मन का धर्मज्ञान। यह इन्द्रिय के आघात से मन में उत्पन्न होता है। बाह्य ज्ञान है इन्द्रिय का धर्मज्ञान इत्यादि। यह विषय का आघात होते ही इन्द्रिय में पैदा होता है।

बाह्यज्ञान में जो जगत्-प्रवाह है, वह बाह्य तथा इन्द्रियों का विकार है। मानस ज्ञान में जो उन्मिषित होता है, वह मन का विकार है, आन्तर है। आत्मज्ञान में जो जगत् प्रतिफलित होता है, वह है आत्ममय चिन्मय।

आत्मा एक ओर दूसरी ओर परमात्मा, जो बाह्य जगत् के रूप में भासित हो रहा है। ज्ञाता आत्मा एक ओर तथा ज्ञेय आत्मा दूसरी ओर, बीच में मन तथा इन्द्रियाँ। अभी इन्द्रियों का स्रोत विषयों की ओर है। तभी मन का भी स्रोत विषयाभिमुख है। फलत: आत्मा में भी मन की ओर का स्रोत है। इसी कारण से ज्ञेय आत्मा विषय-रूपेण दृश्यमान होता है। अर्थात् आत्मा के दृश्यमान होने पर विषय के रूप में अनात्मा-आत्मभिन्न जैसी प्रतीति होती है। इस स्रोत के अन्तर्मुख होने से इन्द्रियों की गति मन की ओर, मन की गति आत्मा की ओर होती है। जैसे बाह्यमुखीन वृत्ति की सीमा विषय है, उसी प्रकार अन्तर्मुखीन वृत्ति की सीमा आत्मा है।

जब मन तथा इन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं होतीं, तब ज्ञानादि का उदय ही नहीं होता। किन्तु इस क्रिया के बहिर्मुखीन होने से जो संयोग होता है, उससे विषयों का ज्ञान होता है। जब यही क्रिया अन्तर्मुखी हो जाती है, तब आत्मज्ञानादि का उदय होता है। बाहरी ज्ञान पहले इन्द्रिय-विषय की ओर जाता है। फलत: मन इन्द्रियों की ओर आता है। उसके आकर्षण से आत्मा की एक प्रभा मन की ओर जाती है। आत्मशक्ति का यही बहि:प्रकाशन है।

आत्मज्ञान में आत्मा पहले मन को खींचता है। मन इन्द्रियों को अपनी ओर खींचता है। अत: आत्मज्ञानी का आत्मा आकर्षणशील है। विषयज्ञानी का आत्मा विषय आकर्षणशील है। यदि मन-इन्द्रियाँ निष्क्रिय हैं, तब किसी भी ज्ञानादि का उन्मेष नहीं होता। यहाँ तक कि आत्मज्ञानादि का भी नहीं—विषय ज्ञानादि का भी नहीं! इस अवस्था के मध्य कारण के न रहने के कारण ज्ञाता आत्मा तथा ज्ञेय आत्मा एक ही रहता है। यही आत्मस्थिति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मज्ञान को दीक्षित (इनीशियेट) करता है स्वयं आत्मा। परिणामतः यदि आत्मा मन को अपनी ओर न खींचे, तब किसी भी अन्य उपाय से आत्म-ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती। इस अवस्था में विषय अपनी ओर नहीं खींचता। बाह्यज्ञान को इनीशियेट करता है विषय। ये दोनों व्यापार प्रायः साथ-साथ होते हैं।

कभी ऐसा भी होता है कि आत्मा मन को अपनी ओर खींचता है। पक्षान्तर से विषय भी इन्द्रियों को अपनी ओर खींचता है। परिणामतः गौण रूप से इन्द्रिय मन को और मन आत्मा को खींचता है। दूसरी ओर गौण रूप से मन इन्द्रिय को और इन्द्रियाँ विषय को खींचने लगती हैं। जिसमें अधिक बल है, वह प्रबल हो जाता है।

आत्मा से एक प्रभा बाहर हो रही है। इसके मन पर पड़ने से मन से भी एक प्रभा निकलकर इन्द्रियों की ओर जाती है। इन्द्रियों से वह विषयों की ओर जाती है। तभी आत्मप्रकाश से सब प्रकाशित होता है। इसके मूल में एक रहस्य है। आत्मा का यह प्रभा-विकिरण जो है, इसके मूल में है मन की क्रिया तथा तज्जन्य आत्मा से योग अथवा संघर्ष! यह न हो तब आत्मा है शव। उसमें न तो प्रभा रहेगी, न शक्ति। मन की क्रिया के मूल में है वायु का कम्पन। वायु है वासना मुक्त विषय का अपक्व अंश। विषय भोग तथा विषय को अपने में पचा न सकने के कारण वायु उत्पन्न होता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि अचित् को पूर्णतः चिद्भाव में परिणत कर सकना ही यथार्थ भोग है। 'चिद्वसानो भोगः' ऐसा न होने पर अपच हो जाता है। अचिदंश भीतर जमा रह जाता है। यह चित् को अचित् की ओर खींचता है। मध्य में मन की क्रिया होती है। अतः जिस कारण से अचित् को पूर्णरूपेण चिद्रूपेण ग्रहण नहीं किया जाता, वही आत्मा के किरण-विकिरण का हेतु है।

ब्रह्मज्ञान अथवा किसी प्रकार का ज्ञानलाभ करने से ही ज्ञानदान की क्षमता होती है, ऐसी बात नहीं है। जिसे ज्ञानदान करना है, उसमें भी ग्रहण-योग्यता होनी चाहिए। किन्तु यह ग्रहण-योग्यता आधारमूलक है। यही है कुशलमूल। यही ज्ञान को धारण करती है तथा उसे निखारती है। यदि ज्ञानदान करने वाले की शक्ति अविकसित हो, वह ज्ञान-संचार नहीं कर सकेगा। जो ज्ञानदाता कुशलमूल को देख सकते हैं, वे ही उस कुशलमूल को लक्ष्य करके ज्ञान अर्पित कर सकते हैं। सबका कुशलमूल एक जैसा नहीं है। किसी ने दो जन्म पहले इसे संचित किया है, किसी ने हजारों जन्म पहले। सभी ज्ञानी ज्ञान सम्पत्ति में बराबर हों, तब भी वे ज्ञानदान में समान नहीं हो सकते। पूर्ण शक्ति का विकास हुए बिना जिस किसी को ज्ञान नहीं दिया जा सकता। जिसकी शक्ति दो जन्म को भेदकर कुशलमूल देख सकती है, वह उस व्यक्ति को ज्ञान दे सकता है जिसने दो जन्म पूर्व कुशलमूल का संचय किया है वह सहस्र जन्म के पूर्व कुशलमूल संचित करने वाले को ज्ञानदान नहीं दे सकता। परन्तु जिसकी शक्ति पूर्ण विकसित है, वह हर एक को ज्ञानदान (दीक्षा) दे सकेगा। वह जगद्गुरु है। वह कुशलमूल भी ज्ञान का अनुपाती है। शक्ति भी वैसी ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रसंग में शब्द का कई बार उल्लेख आया है। इसमें यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि शब्द की अवस्था क्रिया की अवस्था है। कुण्डलिनी शक्ति जागृति के अनन्तर इस अवस्था का आरम्भ होता है। इस शक्ति का जागरण ही चेतन शब्द की क्रिया अथवा शुद्ध सत्त्व की क्रिया अथवा बिन्दु का कार्य है। जाग्रत् चेतन शक्ति ही विशुद्ध सत्त्व है। जीव मलिन सत्त्व के साथ त्रिगुण क्षेत्र वे विचरण करते हैं। अतः शुद्धधाम में नहीं जा पाते। जब किसी अज्ञात कारण से शुद्धधाम का तेज मिल जाता है, तब उसकी शुद्ध हो गयी शक्ति (जो अब तक सुप्त थी) प्रबुद्ध होती है। इस जागरण में अनाहत ध्वनि, नाद श्रुतिगोचर होता है। यही योग क्रिया है जिसमें क्रमशः मन शुद्ध-स्थिर होने लगता है, उसकी चंचलता कटती रहती है। वासना क्षीण होती रहती है। अब विषय का इन्द्रियों पर प्रभाव भी घटता जाता है। मन की एकाग्रता के कारण विषयों की पकड़ मन से हट जाती है। एक विराट् ज्योति या चैतन्य का स्फुरण हो जाता है। परन्तु मन अब शुद्ध है। वह चैतन्य में लयीभूत नहीं होता।

इसी अवस्था में आत्मदर्शन होता है। मन तब भी है, परन्तु वह शुद्ध मन है। तदनन्तर आत्मा और इन्द्रियों से अलग हो गये मन का पारस्परिक योग बढ़ने लगता है। अब होता है आनन्द का विकास। मन विकसित होने लगता है। यह अति विकसित विशाल मन ही विराट् शक्ति है। यही अवस्था पूर्णतम योगावस्था तथा पूर्णतम आत्मदर्शन है। आत्मा की इस शुद्धावस्था में आनन्दास्वाद पूर्णतम होता है। यही है शिव-शक्ति का पूर्ण मिलन। इस विचित्र अवस्था से ही संसार-व्यापार चलता है। इसी अवस्था का सहाय्य लेकर ब्रह्मतत्त्व में प्रवेश होता है।

यहाँ कुण्डलिनी की चर्चा की गयी है। कुण्डलिनी का जागरण तीन प्रकार का है। शुष्क क्रिया-शक्ति का जागरण—यह जागरण अचेतन प्रकृति का है। हठक्रिया—आसन, मुद्रा आदि द्वारा जो जागरण होता है, वह जड़ प्रकृति का है। इसमें पुरुष नहीं जागता। इसमें छोटी सिद्धियाँ मिलती हैं। ज्ञान नहीं मिलता। एक जागरण है सक्रिय ज्ञानशक्ति का जागरण। इसमें पुरुष द्रष्टामात्र रहता है। प्रकृति का स्वामित्व नहीं रहता। यह कैवल्य है। पहले वाला जागरण कर्ममार्ग है। यह वाला जागरण ज्ञानमार्ग है, परन्तु यह भी वास्तविक जागरण नहीं है।

यथार्थ जागरण ज्ञान तथा क्रिया, दोनों के सम्मिलित भाव का होता है। यह है चैतन्य जागरण। इस जागरण से ज्ञानपथ की कैवल्यसिद्धि तथा क्रियापथ की ऐश्वर्य-सिद्धि एक ही साथ होती है। यही है ऐश्वरीय शक्ति का जागरण। इसके साथ-साथ ईश्वर भाव क्रमशः वर्द्धित होता है (ईश्वरभाव = ज्ञान + क्रियाभाव)। वास्तव में यह है मिलनमूलक जागरण—महामिलन।

यह दिव्यचक्षु तथा ब्रह्मचक्षु से देखने पर ही अवगत होगा कि उस व्यक्ति का कुण्डलिनी जागरण-ज्ञानचक्षु विकास-ब्रह्मज्ञान हो सका है अथवा नहीं। मनुष्य जो शब्द उच्चारण करता है—उसे ही दिव्यचक्षु अथवा चर्मचक्षु से देखने पर अवगत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगा कि उसका जागरण हुआ है अथवा नहीं। साधारणतः दिव्यचक्षु के समक्ष वह शब्द टूट जाता है। उसका जो लौकिक अंश है, वह कोहरे ऐसा परिलक्षित होगा। यदि उसकी कुण्डलिनी जाग्रत् है, तब उस कोहरे में कुछ-कुछ आभा दृष्टिगोचर होगी। तीव्र इन्टेलेक्ट आदि का विकास, काम आदि का भाव, सब पता चल जाता है कि इसमें क्या-क्या है। यह देखा जाता है उस कुहासे (कोहरे) में अशुद्ध ज्योति के रंग द्वारा। यदि उस व्यक्ति (उच्चारणकारी) का ज्ञानचक्षु खुल गया है, तब शब्द में कुहासा रहेगा ही नहीं। वह विशुद्ध ज्योतिरूपेण दृष्टिगोचर होगा। यही देवता है—दिव्य ज्योति है। लेकिन जो ब्रह्मज्ञानी है, उसके शब्द में दिव्य ज्योति परिलक्षित नहीं होगी, वहाँ ब्रह्मप्रकाश अनुभूत होगा। लेकिन इसे दिव्यचक्षु नहीं देख सकते। इसे ब्रह्मचक्षु द्वारा ही देखा जा सकता है। ब्रह्मप्रकाश ही ब्रह्मप्रकाश को पकड़ सकेगा।

यदि दिव्यज्योति से प्राप्त शब्द को धारण किये रहकर भी उससे अपने मन को हटा सकें, तब वही शब्द देवता है। अर्थात् वह शब्द दिव्यज्योति मात्र है, तथापि वह प्रसृत होकर श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होता है। वास्तव में वक्ता तब शब्द नहीं बोलता, लगता है मानों इसने उच्चारण किया। लेकिन वह केवल ओठ हिलाता है। तब शब्द-ज्योति प्रसृत होती है। अर्थात् वह ज्योति आकर मुझे स्पर्श करते समय मार्ग की मलिनता तथा मेरी मलिनता के कारण स्थूल रूप से आती है। यदि शिष्य अथवा श्रोता क्रिया के द्वारा इस मलिनता को दूर कर सके, तब वह शब्द पुनः ज्योतिरूप में प्रकाशित होता है। मार्ग की मलिनता तथा देह की मलिनता हैं पंच महाभूत तथा मन। इनका शोधन ही है भूतशुद्धि अथवा षट्चक्र-भेद। तब ज्योति पश्यन्ती रूप में प्राप्त होती है। उस ज्योति का कोई नाश नहीं कर सकता। दिव्य-ज्योति रूप शब्द किस मार्ग से प्रवेश करता है? यदि श्रोता अज्ञानी है, अभूत बोध है (इन्द्रियाचारी) तब वह इन्द्रिय पथ से प्रवेश करता है। यदि ज्ञानचक्षु उन्मुक्त है, तब ज्ञानचक्षु द्वारा वह प्रवेश करता है। इसकी भी दो अवस्था है। यदि उस समय व्युत्थित अवस्था हो तब अधिक अंश ज्ञाननेत्र द्वारा तथा कुछ अंश इन्द्रिय द्वारा प्रवेश करता है। यदि देह से वियुक्त है तब समस्त शब्द (दिव्यज्योति रूप शब्द) प्रवेश करता है मस्तक के चक्षु द्वारा (ऊर्ध्वचक्षु-ब्रह्मरन्ध्रस्थ चक्षु)। ब्रह्मज्योति रूप शब्द को यदि दिव्य चक्षुधारी सुनेगा, तब वह उसे अधिकतर दिव्यनेत्र से ग्रहण करेगा। कुछ इन्द्रियों से ग्रहण करेगा।

यन्त्र के चलने से ही शब्द होता है। यन्त्र अर्थात् चक्र। यन्त्र चलता है अग्नि-जल-वायु की शक्ति से। वास्तव में आग और पानी के योग से जो वाष्प बनती है, वही है वायु। चक्र चलते-चलते पहले शब्द श्रुतिगोचर होता है। जो दीक्षित है, वह प्रणवाश्रित बीज ध्वनि सुनता है। जो अदीक्षित है—तब भी साधनकर्म रत है, वह चक्र चलने पर अपने संस्कार आश्रित प्रणव ध्वनि का अनुभव करता है। वह सुनता है मन से। सुनते-सुनते तन्मयता के परिमाणानुसार उसका शब्द के साथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकीभाव होता जाता है। वह स्वयं को शब्दात्मक लगने लगता है। अलग से शब्द सुनता हूँ, ऐसा नहीं। मैं स्वयं ही स्वप्रकाश शब्दरूप हूँ, यह बोध होता है। यही है शब्द का अभेद ज्ञान। तदनन्तर अब शब्द नहीं सुना जा सकता। शब्द की पूर्णता हो जाने से समाधान हो गया। इसके अनन्तर अब शब्द नहीं है। यही है निर्विकल्प।

अब होता है ज्योतिदर्शन। पहले यह स्वयं से भिन्नतः होता है। अन्त में क्रमशः स्वयं से अभिन्न होता जाता है। तब लगता है कि मैं स्वयं ही ज्योति हूँ। यह ज्योति है दिव्यज्योति। अर्थात् बीज से प्रतिपाद्य देवता की अंगज्योति। इसकी पृष्ठभूमि में है ब्रह्मज्योति। तब भी यह ब्रह्मज्योति रहती है इष्ट के आकार में। ज्योतिदर्शन भी त्रिधा है—भेद, भेदाभेद तथा अभेद दर्शनरूपी 'मैं ही ज्योति हूँ' यह है समाधि। इसके अनन्तर ज्योतिदर्शन नहीं है। तब होता है रूपदर्शन, अर्थात् जिसकी ज्योति है, उसका दर्शन। यह कलामय देवरूपी है, जिससे अहर्निश ज्योति का विकिरण होता जा रहा है। देखते-देखते बोध होता है कि मैं ही देवरूप हूँ। ऐसा दर्शन हो जाने के अनन्तर रूपदर्शन नहीं होता (क्योंकि अब रूप का प्रयोजन ही नहीं है)।

अब अरूप भूमि में प्रवेश मिलेगा। यही है शक्ति साक्षात्कार। अर्थात् जो रूप शक्ति का ही बाह्यप्रकाश था, उस शक्ति का साक्षात्कार। इसमें भी भेद-अभेद तथा अभेद है। अभेदावस्था में यह बोध होता है कि 'मैं ही वह शक्ति हूँ'। उसके अनन्तर शक्ति अतिक्रान्त होती है। साधक अन्तर्लीन हो जाता है। शक्ति-रूप में अपना बोध नहीं रहता (उसकी आवश्यकता अब नहीं है)। अब होता है सत्ता-साक्षात्कार। जिस सत्ता का बाहरी स्फुरण ही शक्ति है, उस सत्ता का साक्षात्कार। यह भी त्रिधा है, भिन्न साक्षात्कार-भिन्नाभिन्न साक्षात्कार तथा अभिन्न साक्षात्कार। उस समय अपने आपमें वह सत्ता स्वरूप का अनुभव करने लगता है। उसके बाद वह विशिष्ट सत्ता भी नहीं रह जाती। इसी समय विशुद्ध प्रणव प्राप्त होता है। इसकी अभेद स्थिति प्राप्त हो जाने पर वह स्वयं को प्रणवतनु रूप में उपलब्ध करता है। तब शुद्ध ब्रह्मज्योति प्रत्यक्ष होती है। यहाँ भी तीन प्रकार का विकल्प है। भेद-भेदाभेद तथा अभेद। चरम में (अभेद में) स्थित होने पर वह स्वयं को ही ब्रह्मरूप से प्रत्यक्ष करता है। यह ब्रह्मज्योति भी अतिक्रान्त होती है। तब एकमात्र अखण्ड प्रकाश रह जाता है। वही है यथार्थ 'मैं'। यह पूर्णाहन्ता रूप—महाविमर्श का अविनाभूत महाप्रकाश है। इसका अतिक्रमण हो ही नहीं सकता। यही है पूर्णत्व।

पहले जो आत्मदर्शन होता है,' वह अपने स्थूल देह के अनुरूप भाव से ही होता है। सायुज्य मुक्ति होने पर आत्मदर्शन के कारण जन्मरोध होता है। उसके पहले तीन या निर्दिष्ट संख्यक जन्म मृत्युलोक में हो सकता है, नहीं भी हो सकता। यदि मर्त्यलोक में जन्म होता है, तब मृत्युलोक के अनन्तर अपने-आप उसे देवलोक में स्थान मिलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सायुज्यमुक्ति होने से लोकाधिष्ठाता के साथ अभेद स्थापना होती है। जिस लोक के अधिष्ठाता के साथ सायुज्य मुक्ति होती है, वह यदि आत्मदर्शन है, तब साथ ही साथ साधक को भी आत्मदर्शन होता है। परन्तु आत्मदर्शन हो जाने पर भी उसे परामुक्ति नहीं मिलती। तथापि उसे अब मर्त्यलोक में जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

पहले जब आत्मदर्शन होता है, वह अपनी स्थूल देहानुरूप भाव से ही होता है। स्थूल देह में अभिनिवेश अथवा तादात्म्य बोध कम हो, केवल उतने से ही आत्मदर्शन नहीं हो जाता। वह प्राथमिक आत्मदर्शन वास्तव में लिंगरूपी आत्मा का (ज्योति स्वरूप का) दर्शन है। आत्मा = कारण, लिंग के आविर्भाव का स्थल है। कारणरूपी आत्मा की चतुर्दिक् विकीर्ण हो रही ज्योति को लिंग कहते हैं। देहावस्थान काल में भी कभी-कभी वह ज्योति देखी जा सकती है। देह बोध विस्मृत होने पर ही इस ज्योति में प्रवेश होता है। देहबोध न रहने पर भी तब दैहिक संस्कार प्रबल रहता है। दीर्घकाल के अनन्तर आत्मा का स्वरूप अनुभूत होता है। यद्यपि द्रष्टा उस समय भी लिंगज्योति में रहता है, लेकिन होता है अन्तर्मुख। बहिर्मुख रहने तक स्थूल का प्रतिबिम्ब लिंग में प्रकाशित होता है। यह लिंगज्योति ही स्थूल देहान्तर्गत ज्ञान तथा क्रिया के व्यापार को सम्पादित करती है। यह ज्योति कारण से आती है, जो आत्मा है। अवश्य ही यह पूर्ण तथा परम आत्मा नहीं है। यह महाकारण है। स्थूल देह की इन्द्रिय आदि, प्राण आदि, मन आदि, सब ज्योति है। अतः कारण-वर्ग की एकाग्रता से उस ज्योति का पुनरुद्धार होता है।

साधारणतः आत्मा (कारणतत्त्व का) का जो रूपदर्शन है, वह वस्तुतः आत्मा की सालोक्यावस्था में होता है। आत्मज्योति में रहकर होता है। देह में रहकर आत्मा का रूप नहीं देखा जाता। तब केवल ज्योति होती है। आँखें बन्द करने पर यदि आलोक ही दिखलाई पड़े तब अन्धकार सदैव के लिए हट गया, यह समझना होगा। यह आलोक ज्ञान का ही होता है। वह आलोक आत्म-ज्योति है। यह आत्मा का लिंग है। उसी में समस्त जगत् विलीन है। उसमें सबकुछ परिलक्षित हो सकता है। इच्छानुरूप विश्वरूप दर्शन होता है। वही कार्यब्रह्म है। उस ज्योति में ही जाकर रूपदर्शन होता है। वही है वैश्वानर। ब्रह्मलोक से अधोलोक पर्यन्त सब उसमें उसी रूप में भासमान हैं। वही आत्मा का रूप है। इसके अनन्तर उस रूप में अन्य कुछ भी नहीं दिखता। सिर्फ 'वह' दिखता है। यही है पराशक्ति की अवस्था अर्थात् शिव तथा शक्ति।

निर्विकल्पक समाधि आत्मदर्शन की अवस्था है। आत्मा को ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप में देखा जाता है। यही ब्रह्मदर्शन है। लेकिन यह अपूर्ण है। आत्मा ब्रह्म का अंश है। उसका साक्षात्कार निःसन्दिग्ध रूप से ब्रह्म-साक्षात्कार है, लेकिन यह है आंशिक साक्षात्कार। निर्विकल्पक के अनन्तर मन का रहता। अतः वृत्ति ज्ञान का कोई स्थान ही नहीं है। इससे साधक द्रष्टा हो जाता है। असंग हो जाता है। अब वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाधि में स्वयं ही दृश्य है। अर्थात् चिदानन्द है। जब वह व्युत्थित होता है, तब दृश्य है जीव-जगत्, तथापि चिदानन्द भी पृष्ठभूमि में ही रह जाता है। अन्यथा द्रष्टा स्वरूप सिद्ध नहीं होता। फलतः जीव-जगत् उस चिदानन्द-सागर के तरंगरूप में परिलक्षित होता है। चिदानन्दरूपी स्वात्मा के ही सत्य होने के कारण जीव-जगत् मिथ्यारूप प्रतीत होने लगता है। समाधि की पूर्णता में कैवल्यावस्था के कारण जीव-जगत् का भान नहीं रह जाता। द्रष्टा स्वरूप में अवस्थिति रहती है। यह अभेद दर्शन ब्रह्म के निर्विशेष-सामान्य रूप का दर्शन है। परन्तु ब्रह्म का विशेष रूप भी तो है— जीव तथा जगत्। वह इस अवस्था में अर्थात् समाधि में दृष्ट नहीं होता, व्युत्थान में मिथ्या लगता है। प्रतीत होता है कि वह संस्कारोत्थ है।

किन्तु पूर्ण ब्रह्मदर्शन में विशेष-विशेष दर्शन भी युगपत् रहता है। तब समझ में आता है कि जीव-जगत् ब्रह्म का ही रूप है। उन्हीं का अंश है। अतः यह भी सत्य है (जीव-जगत् मिथ्या नहीं है)। अतः पूर्ण ब्रह्म ही पूर्ण सत्य है। यह पूर्ण दर्शन पराशक्ति के बिना नहीं होता। परा भक्तिजनित जगत् और जीवदर्शन है शुद्ध सत्त्वरूपेण दर्शन। यही मिथ्याभाव को (जीव-जगत् की मिथ्या प्रतीति को) दूर करता है। कैवल्यावस्था में विशेष दर्शन नहीं होता।

(1) जीवशक्ति का जागरण जब तक जीव जाग्रत् नहीं है, इस जाग्रत् शक्ति को नहीं देखा जा सकता।

(2) (क) जीव का जागरण तथा जाग्रत् जीव शक्ति का दर्शन।
(ख) बाद में जीव का आत्मदर्शन।

(3) ऐशी शक्ति का जागरण = जीव तथा शिवशक्ति-मिलन।

(4) (क) शिव का जागरण और जाग्रत् ऐशी शक्ति का दर्शन।
(ख) बाद में शिव का आत्मदर्शन।

(5) ब्रह्मशक्ति का जागरण या ब्रह्मविद्या का उदय = शिव तथा ऐशी शक्ति का मिलन।

(6) (क) ब्रह्म का जागरण तथा जाग्रत् ब्रह्मशक्ति का दर्शन।
(ख) ब्रह्म का आत्मदर्शन।

(7) पूर्णत्व का उदय (ब्रह्म तथा ब्रह्मशक्ति का मिलन)।

(8) पूर्णत्व।

पहले में (1 में) शक्ति जगी लेकिन जीव सुप्त है। इस अवस्था में साधक कुछ देख नहीं पाता। अथच शक्ति जाग गई।

द्वितीय 'क' में (2 क में) जीव अथवा साधक जगा। जागकर अपनी शक्ति को देख रहा है। यही सिद्धि-विभूति है।

द्वितीय 'ख' में (2 ख में) साधक अपने को ही देखता है। यह है सिद्धि के उपरान्त का आत्मदर्शन। यही है द्रष्टाभाव।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीय (3) में भक्ति का उदय है, जो ऐशी शक्ति है (कामबीज है)। वास्तव में उस समय जाग्रत् जीव तथा जाग्रत् जीवशक्ति आलिंगनबद्ध होते हैं। यही ऐशी शक्ति है = माता-जगदम्बा। यह मातृदर्शन तब तक चलेगा, जब तक शिव जाग्रत् नहीं होते। इस माता का आत्मशक्तिरूपेण दर्शन नहीं होता।

चतुर्थ 'क' (4 क में) में शिव जाग गये अर्थात् जीव को शिवत्व मिला। वह ऐशी शक्ति को आत्मशक्तिरूपेण देखता है। यही ऐश्वरिक सिद्धि है।

चतुर्थ 'ख' (4 ख) में शिव अपने को ही देखते हैं (जो जीव शिव हो गया वह अब अपने आपको ही शिव रूप देखता है)। शिव का आत्मदर्शन। यही है परम द्रष्टाभाव।

पंचम में (5 में) शिव-शक्ति का मिलन प्रारम्भ होता है। वही है ब्रह्मविद्या का उदय। उस समय ब्रह्मभाव प्रकट ही नहीं है।

षष्ठ 'क' (6 क में) ब्रह्मभाव के जाग्रत् होते ही ब्रह्मविद्या साक्षात्कृत होती है।

षष्ठ 'ख' (6 ख में) उसके अनन्तर ब्रह्म का आत्मदर्शन। यही है 'अहं ब्रह्मास्मि'।

सप्तम (7 में) ब्रह्म तथा ब्रह्मविद्या का मिलन होता है। तब 'ब्रह्मोऽहं' भाव भी नहीं रह जाता। यही मिलन पूर्णत्व है।

अष्टम (8) में मिलन के अन्त में जो है, वह पूर्ण है। ब्रह्मत्व है। स्थिति है।

इस जागरण में भी रहस्य है। हम इसे जीवशक्ति के रूप में लेते हैं। अब क्रमशः पहले शक्ति जगती है। यह जागरण पूर्ण होने पर स्वभाव के नियम से जीव स्वयं जग जाता है। यही है प्रकृति का नियम। गुरु अथवा देवता की इच्छा से शक्ति के कुछ जागने पर भी जीव जाग सकता है और जीव का जागरण भी क्रमिक होता है। इसलिए कम या अधिक जाग जाता है। सद्गुरु साधारणतः शक्ति का पूर्ण जागरण होने के पूर्व जीव को नहीं जगाते। इससे जीव के बद्ध हो जाने का भय जो रहता है। जीव जाग जाये, परन्तु शक्ति पूर्णतः न जागे—ऐसी अवस्था में आत्मदर्शन नहीं हो सकता। शक्ति जागे बिना भी गुरु जीव को जगा सकते हैं। परन्तु तब भी शक्ति के न जागने के कारण वह सिद्धि नहीं पा सकता, आत्मदर्शन भी नहीं पा सकता। सिद्धि की पूर्णता में ही आत्मदर्शन सम्भव है।

ऐसी भी अवस्था है कि जीव जागकर जाग्रत् शक्ति को देखता है, तथापि आत्मदर्शन नहीं होता। यह एक विचित्रता है। जब दोनों का जागरण पूर्ण होगा, तभी जीव को आत्मदर्शन हो सकेगा। यह हो सकता है कि किसी भी क्रम से हो। अर्थात् प्रथमतः जीव जागकर क्रमानुसार पूर्णता प्राप्त करे, बाद में शक्ति के जागरण से यथार्थतः पूर्णत्व प्राप्त करे। अथवा पहले शक्ति जाग्रत् होकर पूर्ण हो जाये, तदनन्तर जीव जागकर पूर्ण हो सके। अथवा दोनों ही युगपत् जाग-जाग कर पूर्ण हों। यदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाग्रत् जीव जाग्रत् शक्ति को देखते ही उसका भोग करना चाहे, तब दोनों का ही ह्रास होगा, पूर्णता नहीं होगी। इस पूर्णता के अभाव में आत्मदर्शन नहीं होगा। शक्ति का प्रयोग करने का तात्पर्य है शक्ति का भोग करना। भोग होता है द्वैतभाव से। आत्मदर्शन के अनन्तर शक्ति से जो मिलन होता है, वह भोग नहीं है। क्योंकि तब शक्ति है स्वरूप शक्ति। आत्मदर्शन के पूर्व वह है बाह्य शक्ति। आत्मदर्शन से शक्ति का बाह्यत्व तथा जड़त्व निवृत्त होता है। वह चित् शक्ति (स्वरूप शक्ति) हो जाती है। अन्तरंग हो जाती है। तब जीव और उसकी शक्ति एक है। यही है भक्ति। आनन्द का विकास। अतः तब शक्तिदर्शन करके उससे कुछ प्रार्थना करने का प्रयोजन ही नहीं रहता। यदि प्रार्थना करें तब वह आत्मरूप कहाँ?

शक्ति जागी, आत्मा भी जागी (अंशतः)। तब क्या करना होगा। द्रष्टा होकर केवल शक्ति को देखते रहना होगा। यही उपासना है। देखते-देखते दोनों पूर्ण हो जाते हैं। फल है आत्मदर्शन। पूर्ण होने से द्रष्टा स्वयं को स्वयं देखता है। या दृश्य स्वयं द्रष्टा हो जाता है। यही है चैतन्य, आत्मदर्शन।

जड़ समाधि है अज्ञान लय। ज्ञान न रहने से स्थिरता होने पर भी आनन्दोपलब्धि नहीं होती। इस अवस्था में मन नहीं रहता, परन्तु व्युत्थित होने से मन उद्बुद्ध होता है। यह सुषुप्ति नहीं है। सुषुप्ति में अज्ञान होता है। जड़ समाधि में भी अज्ञान होने पर भी दोनों में भेद है। सुषुप्ति में चित्त एकाग्र न होकर अन्धकारावृत्त हो जाता है। जड़ समाधि में चित्तैकाग्र्य रहता है। तथापि वह भी अन्धकारावृत रहता है। जड़ समाधि का भेदन होने से प्रज्ञा मिलती है। जड़ समाधि के स्तर भेद हैं, तथापि किसी भी स्तर में ज्ञान नहीं है।

जड़ समाधि का भेदन हो जाने पर इन्द्रियाकर्षण समाप्त हो जाता है। भेद न हो तब यह आकर्षण भले ही समाधि काल में न रहे, तथापि व्युत्थान में रहता ही है। वास्तविकता यह है कि अन्दर आकर्षण छिपा रहना ही व्युत्थान का कारण है।

मूल प्रकाश अवर्ण है। इसमें चित् लक्षित नहीं होता। उपमूलप्रकाश श्वेतवर्ण है। इसमें शुद्धसत्त्व लक्षित होता है। सृष्टि का वैचित्र्यभाव है नाना वर्ण, जो गुणों का खेल है। इसमें भोग वृत्ति है। परिणाम है सुख-दुःख। यहाँ जो नाना रंग खेल रहा है, वहाँ भावजगत् का केन्द्र है अहंकार। इसमें कर्म, कर्मफल विद्यमान रहता है। फलतः कर्तृत्वाभिमान तथा सुख-दुःख भोग है। इन विभिन्न वर्णों का यदि संघट्ट (क्रिया द्वारा) किया जा सके, तब एक ज्योति फूटती है। यह संघट्ट ही है एकाग्रता। समाधि। फल है ज्योति तथा प्रज्ञा। यह पीतवर्ण है। यह भी वृत्तिज्ञान है। यह समस्त वृत्तियों का भक्षण करने वाली एकाग्रवृत्ति है। यदि कोई वृत्ति एकाग्र है, तब वह चरम में प्रज्ञा बिखेर देती है।

इस पीतज्योति के शान्त होने से ही बिखरी-व्यापक-उज्ज्वल ज्योति देखने में आती है। पीतज्योति में दो ज्योति हैं—उज्ज्वल ज्योति तथा प्राकृत सत्त्व। पीतज्योति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से प्राकृत सत्त्व के विश्लिष्ट होने से जो रहती है—वही उज्ज्वल ज्योति है। उस उज्ज्वल ज्योति में दो तत्त्व हैं। उन्हें अलग करना अत्यन्त कठिन है। उज्ज्वल ज्योति = चित् + शुद्ध सत्त्व। इसे ज्ञानचक्षु कहते हैं। चित् ही वास्तव में प्रकाश स्वरूप है, पर वह देखा नहीं जाता। शुद्धसत्त्व के योग से यह उज्ज्वल ज्योति के रूप में दृष्ट होता है। इसे ही साधारणतः चैतन्य कहा जाता है। वास्तव में चित् एवं शुद्ध सत्त्व सदैव रहता है।

शुद्धसत्त्व-खण्ड रूप में प्रत्येक जीव के साथ है। आँखें बन्द करने से जो अन्धकार परिलक्षित होता है, वह शुद्ध सत्त्व के ऊपर का आवरण मात्र है। चित्त की शुद्धि के साथ-साथ उस आवरण में तारतम्य होता है। नाना रंग परिलक्षित होता है। वास्तव में वह मूलाधार अथवा पृष्ठभूमि है। भीतर का अन्धकार जब दूरीभूत होता है, तब वह एक दर्पणवत् प्रकाशित होता है। उसके सभी काल, सभी देश प्रतिबिम्बवत् दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु इसके लिए इच्छा होनी चाहिये।

यह दर्पण आकाशवत् है। यही दहराकाश है। आँखें खुली रहने पर भी उसका प्रतिबिम्ब लक्षित होता है। कान खुले रहने पर भी उसका शब्द श्रुतिगोचर होता है। उसी के क्षोभ से रूप-रस-शब्द आदि स्फुरित होते हैं। वह शब्द आदि की प्रकृति है। बाहर जो कुछ भी लक्षित होता है, वह है मलिन सत्त्व। बहिराकाश में, बाह्य जगत् के भीतर-भीतर अन्तर्जगत् लक्षित होता है। यह शुद्ध सत्त्व ही बिन्दु है। विक्षेप के दूर होने पर ही एकाग्रता होती है। तदनन्तर प्रज्ञा प्राप्ति से शुद्ध सत्त्व मिलता है। इस बिन्दु के क्षोभ से ही नाद या वेद का आविर्भाव होता है। समग्र अन्तर्दृश्य वेद का ही रूप है। एक में ही सब परिलक्षित होता है। बिन्दु के स्थैर्य के अभाव में वह दर्पण प्रकाशित नहीं हो सकता। वेद-नाद-ज्ञान उसी दर्पण का स्वाभाविक स्फुरण है। उसका आश्रयण करके ही चैतन्य में गति होती है।

निष्कल निरंजन है। चित्कला से चिद्बिन्दु, उससे चिदाकाश, उससे अनन्त शून्य, उससे परमेश्वर। दूसरा मार्ग है चित्कला से चित्तबिन्दु, उससे चित्ताकाश, उससे महाशून्य, उससे ईश्वर। तृतीय है भूतकला, उससे भूतबिन्दु, उससे भूताकाश, उससे शून्य, उससे जीव।

चित्ताकाश रूप बिन्दु क्षुब्ध होकर क्षणरूपेण प्रवाहित होता है। अब भूताकाश रूप में भी बिन्दु क्षुब्ध होकर क्षणरूप में प्रवाहित होता है। विक्षुब्ध चित्तकला बाहर जहाँ घनीभूत होकर जमा है, वही भूताकाश रूप बिन्दु है। इस घनीभूतता में क्रमतिरोधात्मक आवरण है। यही है अज्ञान अथवा Space (देश)। क्रमभावी क्षण कभी वस्तुतः समष्टिभूत नहीं हो सकता। अतः भूतबिन्दु का आविर्भाव मात्र भ्रम है। उसी क्रम को मानकर भूत से भौतिक जगत् तैयार होता है। भौतिक जगत् का पहला आवरण हटते ही देखा जाता है कि क्षणधारा या कालस्रोत तीव्रता से चल रहा है। यही ज्ञानधारा है। ज्ञेयधारा नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तराकाश में 5 पथ हैं। अतएव क्षण-ज्ञानधारा पाँच पथ से चालित होती है। ये पाँच तन्मात्र हैं। शब्दधारा है मूल-मध्य। चार धारा चारो ओर। इसके मूल में एक धारा है। वही वास्तविक क्षण-विज्ञान धारा है। कारण रूपज्ञान या रसज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञान है। बाह्याकाश में भी ऐसा ही है। आकाश मध्य है। चार भूत चारों ओर। आकाश के ऊपर जो है, वही है यथार्थ ज्ञेय। चिदाकाशरूपी बिन्दु क्षुब्ध होकर चित्कलारूपेण प्रसृत होता है। यह क्षुब्ध कला की समष्टि ही चित्ताकाशरूपी बिन्दु है। इस समष्टि के मूल में क्रम का आविर्भावक जो आवरण है, वही ज्ञानशक्ति अथवा काल है।

स्वप्रकाश है चैतन्य। उससे जब महामाया की स्फूर्ति होती है, तब एकांश दर्शक रहता है, दूसरा अंश भागद्वय में विभक्त हो जाता है। भागद्वय होने से बीच में तीसरे का उदय अवश्यम्भावी है। दृश्य अंश है ज्योति-अन्धकार। अर्थात् है सत्त्व-तम। बीच की धारा है रज अथवा खण्डसत्त्व। प्रकृति के दो स्रोत परिलक्षित होते हैं। सत्त्व से तम की ओर और तम से सत्त्व की ओर। सत्त्व बिन्दु तम के गर्भ में पड़कर क्रमशः विकसित होता है। इस विकास के पथ पर जन्म-मृत्यु के द्वारा जीव अग्रसर होता है। मृत्यु के अनन्तर ही आगे बढ़ता है। मनुष्य में यह स्रोत बन्द हो जाता है। प्रथम जन्म हुआ है अविद्या प्रकृति में। द्वितीय जन्म होता है विद्या प्रकृति में। तृतीय जन्म होता है चेतना प्रकृति में। प्रथम जन्मदाता है ईश्वर—पिता। द्वितीय जन्मदाता है सदाशिव—गुरु। तृतीय जन्मदाता है चैतन्य।

सभी तत्त्वों में अभाव रहना निश्चित है, तभी अतृप्ति है। यह भाव द्वारा पूर्ण होती है। भाव से तृप्ति-बोध होता है। अभाव-बोध वास्तविक पिपासा है। जब तक अभाव है—हम प्रकृतिरूप-चंचल, निगेटिव हैं। अभाव मिटते ही पुरुष हैं। यहाँ पिपासा का उल्लेख किया गया है। वही क्षुधा है। क्षुधा भी सबको है, जैसे देह की, इन्द्रियों की। सबको आहार चाहिये। क्षुधा का बोध न होना जड़त्व है, एक रोग है। दूसरी ओर क्षुधा-बोध होकर अगड़म-बगड़म खाने से रोग बढ़ता है।

आहार सबको चाहिये। नेत्रों की भूख मिटाने के लिए उसे उसका भोग्य रूप देना होगा, तभी भूख मिटेगी। रूप विशेष से भूख तो मिटी परन्तु पुनः भूख लग गई (रूप की भूख)। ऐसा सभी इन्द्रियों के साथ होता है। यह भूख होना स्वास्थ्य का प्रतीक है। भीतर भूख, बाहर उस भूख के अनुकूल अन्न। भूख है, तब समझ लें कि उसके योग्य अन्न (सृष्टि में) अवश्य है। जो अन्न है, वह शुद्ध नहीं है। इसलिए भीतर उसका शोधन होता है। सारतत्त्व ग्रहण होता है, असार बाहर फेंक दिया जाता है। रूप में भी ऐसा ही है। जो रूप देखते हैं, उसका जितना हमारी आँखों का पोषक है, उतना प्रकृति ले लेती है। बाकी बाहर कर देती है। ऐसा निरन्तर हो रहा है। तभी आँखें जीवित हैं। आँखों की भूख अनन्त नहीं है। इसलिए उसका आहार भी अनन्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है। यदि ऐसा होता, तब वे जगत् के सान्त रूप से आकृष्ट नहीं होती, तृप्त नहीं होती। जब वास्तव में क्षुधा इतनी प्रबल होती है कि किसी भी रूप से नहीं मिटती, तब वह अमृत रूप निश्चय ही आविर्भूत होगा, जिससे उसकी तृप्ति होगी। उस रूप में असार नहीं है। इसलिए वह सर्व प्रकार से ग्राह्य है।

ऐसा अमृत अवश्य है जो आँखों के लिए नित्य रूप है, कर्णों के लिए नित्य संगीत है। वह सबकी क्षुधा को तृप्त करता है। वही समस्त अभावों का भावरूप है। चिकीर्षु के लिए वह अमृत है क्रियाशक्ति, जिज्ञासु के लिए ज्ञानशक्ति (इच्छा), कामेच्छु के लिए वह है इच्छाशक्ति।

पहले लक्ष्य को स्थिर करना होगा, तदनन्तर उसकी ओर चलना होगा। चलते समय लक्ष्य पर ही दृष्टि रहने से, वेग से चलते रहने से, लक्ष्य की शीघ्र प्राप्ति होगी। लक्ष्य पर दृष्टि न रहने से मात्र क्रिया से इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। लक्ष्य पर स्थिर रहना कारण (जगत्) का कार्य है। लक्ष्य पर दृष्टि रखना लिंग का (सूक्ष्म का) तथा उस पर चलना स्थूल का कार्य है। जब तक स्थूल तथा लिंग का तादात्म्य नहीं हो सका है, तब तक मात्र लक्ष्य से ही कार्यसिद्धि नहीं होगी। क्योंकि उसमें स्थूल प्रतिबन्धक है। लक्ष्य स्थिर करके और उसमें ध्यान लगा कर यदि मृत्यु हो भी जाये तब भी लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता मिलेगी। लक्ष्य रखना अर्थात् ध्यान। क्रिया अर्थात् जपादि। ध्यान के साथ जप होता है। जप करते-करते क्रिया बन्द हो जाने पर तब लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

वास्तव में लक्ष्य को स्थिर करके उसमें चित्त की स्थिरता से जो किया जायेगा वह कार्यकारी होगा। लक्ष्य को ठीक रखने से 'उनसे' योगायोग हो जाता है। तब स्थूलदेह जो भी करे, उसके मूल में 'उनका' प्रभाव रहेगा। उस समय पुण्य-पथ भी सहायक होता है। यही है प्रारब्ध भोग। तब 'उनकी' ही शक्ति जीव को चलाती है। उन्हें देखते रहने से अब जीव का कर्त्तव्य ही कहाँ रहा? जब दृष्टि तथा स्थूलदेह में अभिन्नता है, स्थूल अपने स्थूलत्व को विस्मरित कर अतिवाहिक भाव प्राप्त करता है, तब क्रिया नहीं रह जाती। जो है, वही है उपासना। केवल दर्शन! देखते-देखते ही द्रष्टा तथा दृश्य एक हो जाता है। समाधि आने से प्रज्ञा विकसित हो जाती है। निमेषरहित दृष्टि ही उपासना है। यही है रूप-सेवा। क्रिया करते-करते जैसे क्रिया नहीं रहती, दर्शन होता है—वैसे ही देखते-देखते दर्शन भी नहीं रह जाता। तब भक्ति फूट जाती है। यही है समाधि। उसके अनन्तर जो उन्मेष होता है—वही है प्रकृत वस्तु!

अब लक्ष्य को स्पष्ट किया जा रहा है। मानो लक्ष्य के सामने गाय है। मैं गाय को देख रहा हूँ, परन्तु उसे पाया नहीं है। क्यों नहीं पाया? क्योंकि मेरा देखना विक्षिप्त भाव से है। मैं जिस मात्रा में एकाग्र होता जाता हूँ, उतनी ही मात्रा में लक्ष्य के सामने से अन्य वस्तु हटती जायेगी। एकाग्रता की पूर्णता है निरोध। तब लक्ष्य की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राप्ति रहेगी। व्यवधान जाता रहेगा। मैं गाय हो जाऊँगा। मान लीजिये कि मैं आपाततः गाय देख रहा हूँ। मैं दूर हूँ। पर दूर रहकर भी लक्ष्य स्थिर रहने से योगसूत्र रह ही गया। इस योगसूत्र को जितना समेटा जायेगा, एकाग्रता उतनी बढ़ती जायेगी। लक्ष्य निकटवर्त्ती रहेगा और अन्त में समाधि। उस समय 'मैं ही गाय हूँ' यह उपलब्धि होगी, यह भी उपलब्धि होगी कि 'मैं गाय से परे भी हूँ'। इसकी परावस्था में है केवल अतीत भाव, निर्विकल्प भाव। यह विशुद्ध निर्विकल्प नहीं है, क्योंकि इससे वह गाय रूप विकल्प 'मैं गाय हूँ' यह भासित होता है। तदनन्तर मेरे और गाय के मध्य अस्पष्ट योगसूत्र बिखरता है। क्रमशः गाय मुझसे पृथक् होगी। मेरे ज्ञाता होते ही गाय ज्ञेय होकर मुझसे पृथक् हो जाती है।

मनुष्य किसी भी विषय में चेष्टा करता है, निरन्तर। यही है तपस्या। चेष्टा बन्द न करे। बीच में सफल हो न हो। उससे कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि उस सफलता का कोई मूल्य नहीं है। इस चेष्टा पर जब भगवत्-कृपा पड़ती है, तभी सिद्धि होती है। उस समय तो बिना चेष्टा सब अपने-आप हो जाता है। चेष्टासाध्य अब स्वाभाविक है। अतएव स्वभाव के साथ योग रखते ही चेष्टा करना चाहिये। कृपा ऐसे ही नहीं हो जाती। चेष्टाहीन के लिए कृपा-लाभ असम्भव है।

विशुद्ध सत्त्व से आत्मा की ओर का जो प्रवाह है, अथवा आज्ञाचक्र से सहस्रार की ओर जो प्रवाह है, वह है आनन्द। आज्ञा से विषयों की ओर जो प्रवाह है, वह है दुःख अथवा संसार। प्रवाहरहित आज्ञा से सहस्रार अथवा सहस्रार मण्डल शुद्ध चैतन्य है। यह आनन्द ही सुधा-अमृत है।

मूलतत्त्व ही कारणवारि है। उसकी समष्टि है कारणसमुद्र। ये मूलतत्त्व मूलप्रकृति के अंगस्वरूप परमवस्तु के अणु हैं। इसी कारण परमाणु पदवाच्य हैं। इनकी उत्पत्ति तथा विनाश ब्रह्मा आदि के लिए भी असाध्य है। यह परमाप्रकृति जब निष्कम्प रहती है, तब अंग एवं अंगी एकाकार होते हैं। अव्यक्त होते हैं। कम्पन के कारण दूसरे भाव का आभास आता है। कम्पन है ईक्षणमूलक। ब्रह्मा आदि उस पृथक्-भूत की उपादान राशि की मात्र समष्टि करते हैं अथवा विभक्त करते हैं। कारणवारि के अधिष्ठाता हैं नारायण। यह कारणवारि जिनसे उद्भूत है, वे हैं नर। प्रत्येक देह के अन्तर्यामी हैं, वे भी परमात्मा हैं। ये हैं ज्ञानशक्ति युक्त, चैत्यगुरु। वे चालक हैं। दयावान होकर भी संस्कार की अपेक्षा करके संचालन करते हैं। वैसे ही प्रेरक हैं। कृत कर्म अथवा नियति का लंघन नहीं कर सकते। सर्वज्ञ होकर भी पूर्णशक्तिमान नहीं हैं। अंशमात्र हैं। यही है व्यष्टिकुण्डलिनी। समष्टि कुण्डलिनी है समष्टि अन्तर्यामी अथवा ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी। अथवा ब्रह्मा के अन्तर्यामी। इनको क्षीरोदशायी कहा गया है। समग्र जगत् का जो अन्तर्यामी है, वह है कारणार्णवशायी। ये हैं तीन प्रकार के परमात्मा। परमात्मा में पूर्ण शक्ति प्रकट नहीं है। यही गुरु हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यही सदाशिव हैं, ज्ञानशक्ति की मूर्ति। उनके अधीन क्रिया के चालक हैं। यही वासुदेव—परमात्मा हैं।

ब्रह्मतेज Latent को Patent करता है। केवल Latent शक्ति कार्यक्षम नहीं होती। उसे कार्यकारी बनाने हेतु Patent शक्ति का संयोग अभिप्रेत है। जैसे एक छोटा पत्थर। उसमें शक्ति अवश्य निहित है। लेकिन उसकी क्रिया समझने हेतु उसे निक्षेप करना होगा। जो निक्षेप करेगा, उसकी अपनी शक्ति उससे मिलकर—उसे जगाकर कार्यकारक होगी। यदि वह पत्थर छोटा बालक फेंके और यदि कोई बलिष्ठ व्यक्ति फेंके, तब आघात का तारतम्य होता। प्रस्तर आघात का हेतु है, तथापि बलशाली के फेंकने से उसका वेग अधिक होगा। अतएव एक ही मन्त्र यदि शक्तिशाली गुरु के पास जाये तब उसका शक्तिवीर्य अधिक तथा कम शक्तिशाली के पास उसका शक्तिवीर्य अपेक्षाकृत न्यून होगा। जो ब्रह्मयन्त्र उठाते हैं, उनके लिए सभी बीज या मन्त्र हल्के हैं, वे उसे सहज उठाकर प्रयोग कर सकते हैं।

प्रणव सबसे भारी वस्तु है। वह ब्रह्मबीज है। यह सर्वव्यापक है, तथापि निराकार तो प्रणव के ऊपर है। साकार में प्रत्येक आकार अथवा रूप का स्वाभाविक नाम है। यह उसका बीज है, नादात्मक है। आकार अनन्त है, अतः उनका बीज भी अनन्त है। आकार जहाँ एक है, वही ईश्वर है। उसका वाचक है प्रणव। समस्त आकार उसी के अंश हैं। समस्त नाद उस एक महानाद के अंश हैं। अंशी = व्यापक। अंश = व्याप्य। अनन्त आकार = अनन्त देवता। वट का बीज अतीन्द्रिय है। उसकी नादात्मक दिशा ही पहले विकसित होती है। अतः वह मूलबीज है। इस बीज के विकासार्थ आवश्यक है क्षेत्र, कर्षण तथा वपन, जलसिंचन आदि परिकर्म। वटवृक्ष क्या? जो सभी अवस्थाओं में साधारण भावेन है, वही। यही बीज का वाच्य है। वह प्रस्फुटित होता है, अभिव्यक्त होता है, काल से क्रमशः प्रकाशित होता है, साथ ही बाह्य एवं वट से इतर परमाणु मिलते रहते हैं। अभिव्यक्त होना ही स्थूलत्व लाभ है। सम्बन्ध सापेक्ष। वृद्धि आदि भी वही है। बीज से वृक्ष की पूर्ण परिणति न होने तक वट की जो अवस्था है, वह एक देशमात्र है।

नाद से रूपाविर्भाव होता है। यह खण्ड आकार का साम्य है। ओंकार से महासत्ता आविर्भूत होती है। इसकी एक अवस्था ज्योति है। उच्चावस्था ज्योतिर्हीन व्यापक आकृति मात्र है। इसके विकास से ही चैतन्य का विकास (दिव्यचक्षु का विकास-उदय) होता है। तब है नादान्त। सत्ता से चित् विकसित होता है। यही है महाव्योम (चिदाकाश)। सत्ता है महाकाश, जिसमें त्रिगुण है। चिदाकाश है स्वच्छ अथवा गुणातीत। ओंकार के बिना महासत्ता को जगा सकना सम्भव नहीं। जहाँ सदा ओंकार है, वहाँ महासत्ता सतत जाग्रत् है। बीज से मन के संघर्ष को ही साधन कहते हैं। इस संघर्ष से बीज का विकास होता है और मन चेतन होता जाता है। बीज के पूर्ण हो जाने पर मन की क्रिया कैसे रह सकेगी? तब मन ही है शुद्ध आत्मा। बीज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का पूर्ण विकास देवता या ईश्वर है। वह शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। यहीं तक है साकार राज्य।

प्रणव से बीज घिरा रहता है। प्रणव है मूल शब्द। यही मूलशब्द बीज को आवरित किये रहता है। शब्द के आवरण को हटा देने पर तभी बीज स्फुटित होगा। प्रकाश का अवसर बीज को मिलेगा। बीज है अव्यक्त चैतन्य अथवा शक्ति की अव्यक्तावस्था। उसका आवरण है शब्दब्रह्म। शब्द का आवरण बराबर रहता है। उसमें जरा भी आवरण हटने से अव्यक्त चैतन्य अभिव्यक्त होता रहेगा। बीज तथा फल के मध्य है कर्म। बीज से कर्म, कर्म के अन्त में फल। कर्म का उद्देश्य है चैतन्य से शब्द को हटाना। साधना मात्र का यही उद्देश्य है। इसे पुरुषकार कहा गया है।

यथार्थ बोध अत्यन्त कठिन है। जब शुद्ध बोध जागेगा, तभी इच्छा विनिवृत्त होगी। इच्छा की निवृत्ति से ही 'मैं' बोध जाग्रत् होता है। आत्मसाक्षात्कार होता है। संसार की समस्त इच्छा एक ही इच्छा का विकास है। इस इच्छा को संहत किये बिना बोध-दर्शन नहीं होगा। अतएव जब आत्मदर्शन होता है, तब इच्छा का विकास नहीं रह जाता। इच्छा के संहत हुए बिना इच्छा की मूल सत्ता के दर्शन का कोई उपाय नहीं है। इच्छा से ही सृष्टि की लीला है। इच्छा के अनन्तर है सत्ता। दर्शन होने से ही क्षणमात्र के लिए इच्छा-बोध होता है। पहले दर्शन, तब स्थिति। पहले क्षण चैतन्य, तदनन्तर अन्त्य है नित्य चैतन्य। जब सब लीन हो जाता है, तब पुनः इच्छा स्फुरित हो सकती है। इस इच्छा की स्फूर्ति होती है स्वभाव से। किन्तु इस इच्छा से जगत्-सृष्टि नहीं हो सकती। इच्छा का बलाबल तो बोध या दर्शनानुपातेन होता है। बोध पूर्ण हो जाने पर तथा दर्शन के स्थिति में परिणत हो जाने पर वहाँ जो इच्छा है, उससे समस्त सृष्टि आविर्भूत होती है।

जीव आत्मदर्शन न होने तक भगवान् की साधारण दृष्टि में भी नहीं पड़ता। पराभक्ति का उदय होने पर उनका विशेष दृष्टिपात होता है। तथापि कुण्डलिनी की चेतनता अथवा दीक्षा के साथ-साथ उनकी शक्ति की दृष्टि में जीव पड़ता है। पहले देवता की दृष्टि पड़ती है, तदनन्तर कुण्डलिनी का पूर्ण जागरण हो जाने पर महामाया की दृष्टि पड़ती है। अदीक्षित काल की दृष्टि में है। देवदृष्टि के बाहर है। यह दृष्टिपात कृपासापेक्ष भी है।

पहले साधारण कृपा होती है, जो आश्रित पर कृपा करती है। अनाश्रित पर कृपा नहीं होती। यह कर्मफल का नियम है। कार्य-कारण-भाव-मात्र साधारण कृपा सदा ज्ञान-बीज-संचार से प्रारम्भ होती है। तदनन्तर आश्रित की ओर से तीव्र पुरुषकार आवश्यक है। यही आज्ञापालन और उसकी चेष्टा है। नियमानुवर्त्तिता है। कृपा होती है चैतन्य की। वह साकार-निराकार दोनों ही है। निराकार इसलिए कि किसी आकार का निर्णय नहीं है। सभी साकार हैं। निराकार चैतन्य ही शिव है। साकार चैतन्य है शक्ति। सभी प्रसंग में उनकी कृपा के निदर्शन को स्वीकार करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधारण लोगों के लिए अमूलक है। यदि सब उनकी ही कृपा है, तब अकृपा को कहीं माना ही नहीं जा सकता।

कृपा स्वतन्त्र है, निरपेक्ष है। इसमें कोई शर्त नहीं है। ईश्वर कृपा नहीं कर सकते, लोग भूल से उसे (कर्मफल को) कृपा मान लेते हैं। पूर्ण जो कृपा करते हैं उसमें भूत-भविष्य नहीं रहता, कोई कारण नहीं रहता। पूर्णसम की कृपा ताटस्थ्यदान है। आनन्दमय आनन्द-दान करते हैं। चैतन्यमय गुरु बोधदान करते हैं। ईश्वर कर्मफल-दान, सिद्धिदान तथा ऐश्वर्यदान करते हैं। ईश्वर जो दान करते हैं वह कर्मफल है। लेकिन कोई पूर्णत्व नहीं दे सकता। केवल पूर्ण ही पूर्णत्व दे सकते हैं। वे क्रमशः पूर्णता देते हैं। यही शुद्धरूपा कृपा है। पूर्ण की इच्छा से ही जगत् का विकास है। इसलिए जगत् में सर्वत्र पूर्ण का आभास है। उनका आश्रय लेकर ही पुरुष कर्म कर सकता है। ईश्वर फल दे सकते हैं। द्रष्टा दर्शन करता है, भोक्ता भोग करता है, गुरु ज्ञान देते हैं। भक्त आनन्दभोग करता है, भगवान् आनन्द देते हैं। पूर्ण ही ईश्वर-भाव का आश्रय लेकर कृपा करते हैं। गुरुभाव का आश्रय लेकर पूर्ण ही कृपा करते हैं। गुरु ज्ञानबीज अथवा कुशलमूल देख कर ही ज्ञानदान करते हैं। बिना देखे नहीं कर सकते। सब पर कृपा नहीं कर सकते।

भगवत्-भाव का आश्रय लेकर पूर्ण ही कृपा करते हैं। जिसमें आनन्द का बीज नहीं है, भगवान् कृपा करके उसे आनन्द नहीं दे सकते। यही भक्ति बीज है। कैवल्य में जितने केवली आत्मा होते हैं, उनका उद्धार भी भगवान् करते हैं। जिस-जिस में भक्ति-बीज रहता है, उनमें आनन्द संचारित करते हैं। जो शुष्क केवली हैं, उन्हें नहीं दे सकते। लेकिन पूर्ण उसे भी आनन्द दे सकते हैं। उसमें भी भक्तिबीज देख सकते हैं। यह भगवान् के अतीत है। सम अथवा शान्तभाव का आश्रय लेकर पूर्ण ही कृपा करते हैं। साम्यबीज यदि है, तब परमेश्वर कृपा करते हैं। परन्तु पूर्ण की दृष्टि में तो सर्वत्र साम्यबीज है। अतएव पूर्ण सब पर कृपा कर सकते हैं।

इसके अनन्तर है पूर्ण का आत्मदान। जीव को पूर्ण कर लेना। यह अन्य कोई नहीं कर सकता। क्योंकि और कोई तो पूर्ण नहीं है। यही चरम कृपा है। इसी से समझ में आयेगा कि पूर्ण की कृपा ही कृपा है। वह स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष है। अपूर्ण की कृपा में सर्वत्र कार्यकारणभाव या नियति है। जो अपूर्ण है (ईश्वर-भगवान् आदि) वह नियति के अधीन हैं। पूर्ण तो स्वतन्त्र है। अपूर्ण का कृपादान तथा पूर्ण का कृपादान एक जैसा नहीं है। अपूर्ण दान करे तो एक ओर क्षीण होता है, दूसरी ओर वर्द्धित होता है। अर्थात् यदि उसने 10 रुपया दिया तब उसका दस रुपया क्षीण हो गया। दूसरी ओर लोकान्तर में पुण्य से उसका वही 10 रुपया एक हजार का फल देता है। पूर्ण जो कृपा देता है, वह देकर भी पहले की तरह पूर्ण ही रहता है। बढ़ता भी नहीं, घटता भी नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मज्ञान के बिना आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना पूर्ण ब्रह्मज्ञान भी नहीं होता। जीवात्मा ब्रह्म का आश्रित तथा ब्रह्म का ही अंश है। आश्रित को जानना हो तब आश्रयदाता को भी जानना आवश्यक है। मूल में सभी ईश्वरांश हैं। लेकिन पहले यह अनुभूत नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति देवीलोक में है। वह देवी के अंश-रूप में प्रतीयमान होता है। देवी का ज्ञान होने पर वह जीव स्वयं को देवी के अंशरूप में देख पायेगा। यह सालोक्य है। क्रमशः वह जीव देवी का रूप तथा शक्ति प्राप्त करता है। अन्त में वह जीव देवी से स्वयं को अभिन्न पाता है। पहले स्वयं को देवी का आश्रित समझता था, अब देवीरूप हो गया। यही ऐश्वर्यावस्था है।

बाह्य ज्योति रूप-शक्ति-भाव अथवा सत्त्वभावातीत ब्रह्म! बाहर से केवल ज्योतिदर्शन होता है, रूपदर्शन नहीं होता। जैसे एक व्यक्ति शिवमन्त्र में दीक्षित है। पहले वह शिव की ज्योतिमात्र का दर्शन करेगा। यह ज्योति ही शिवलोक है। अतः ज्योतिदर्शन का अर्थ है कि बाहर से शिवलोक का दर्शन हो रहा है। यद्यपि बाहर से हो रहा है, तथापि द्रष्टा में वह ज्योति किंचित् है, अन्यथा दर्शन ही न होता। उस ज्योति (लोक) में स्थान पाने पर फिर ज्योतिदर्शन नहीं होता, क्योंकि तब वह स्वयं भी उस ज्योति से ज्योतिर्मय हो जाता है। उस समय ज्योतिर्मय रूप में दर्शन होता है। जिसे शिव-सालोक्य हो गया है, वह ज्योतिर्मय है। उसका रूप तब भी मर्त्यलोक का अन्तिम रूप होगा। वह आकार तब तक रहेगा, जब तक वह शिवाकार नहीं हो जाता। उस ज्योति में पहले से ही शिवरूप प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिए वहाँ शिवाकार पहले से ही रहता है, लेकिन प्राचीन (उसके अपने) आकार के प्रकट रहने से वह प्रकट नहीं हो पाता। जब प्राचीन आकार ज्योति में लीन हो जाता है, तब शिवाकार का प्रकटीकरण अनुभूत होता है। जब स्वयं में शिवाकार देख लेगा, तब स्वयं से अतिरिक्त शिवाकार नहीं देखेगा।

अब सामने से एक शक्ति प्रत्यक्ष होती है, जो शैवी शक्ति है। उसी शक्ति का बाह्योन्मेष है शिवरूप। प्रत्येक देवता की शक्ति पृथक् होती है। जैसे रूप अलग-अलग है, उसी प्रकार से। अतः शिवरूपी साधक अपने में ही उपशक्ति रूप को देख पाता है। तब शक्ति बाहर अलग से दिखलाई नहीं देती। शिवात्मा को भी यही शक्ति ही देख पाती है। बाहर कोई नहीं देख पाता। यही शिवसायुज्य है, क्योंकि देखते-देखते शक्तिरूप साधक स्वयं शिव हो जाता है। अब वह शिव होकर पूर्ण ब्रह्मदर्शन कर सकता है।

जीव का निग्रह अनादि तथा अनुग्रह है अनन्त। निग्रह का अन्त तथा अनुग्रह का आदि समकालिक है। वास्तव में अनुग्रह का सूत्रपात होते ही निग्रह घटित होने लगता है। इससे पहले जीव विशुद्धस्वरूप में पूर्ण चैतन्य के अंशरूप में स्थित था। पूर्ण चैतन्य के एकांश में नित्यगुणमयी माया है। मायावच्छिन्न चैतन्य के अनेक अंश हैं। एक-एक अंश अणुस्वरूप एक-एक जीव हैं। ये अणु चिन्मात्र, दुःखहीन तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुणातीत हैं। माया में सब जीव अनादि काल से महानिद्रा में मग्न हैं। निद्रित रहने के कारण उनका माया-सम्बन्ध नहीं रह जाता। अतएव वे निर्गुण कहे जाते हैं। यद्यपि वे पूर्ण में ही हैं, तथापि सुषुप्त भाव से हैं। इसलिए पूर्ण से नहीं मिल पाते। तथा पूर्ण आनन्द का आस्वादन नहीं कर पाते। भगवान् हैं पूर्ण चैतन्यरूप। उनका तीन भाग में माया नहीं है। मात्र एक भाग में माया है। मायाहीन अंश अविकृत है। जिस अंश में माया है, वह भी अविकृत है। लेकिन वह माया के कारण विकृत प्रतीत होता है। उसे आश्रय करके माया विकृत जगत् तथा जीव की सृष्टि करती है।

जीव भगवद्-अंश है। सृष्टि के पूर्व यह माया में सुप्त था। उस समय स्व-पर का बोध इसे नहीं था। तथापि यह तब भी विशुद्ध था। माया का आवरणमात्र था। शुद्ध जीव की प्रसुप्ति है = शुद्ध जीव मायावृत होकर भी माया की क्रिया से हीन है। यही उसकी सुप्ति है। पूर्ण चैतन्य के मायाधिकृत अंश से ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय पुनः-पुनः चलता है। भगवान् हैं अविकृत मायाहीन नित्य चैतन्य। सुप्त जीव जगता है अन्तर में ज्ञान-संचार से। जीव जागृति के अनन्तर चाहे तो मूल चैतन्य की ओर लक्ष्य करे अथवा माया की ओर लक्ष्य करे। पहले में है मायामुक्ति। द्वितीय में है माया-बन्धन। जगा हुआ जीव सन्धि में अवस्थान करता है। एक ओर है पूर्व वाली प्रसुप्ति, दूसरी ओर है जागरण। यह सन्धिस्थल ही उसकी मुक्ति तथा बन्धन का केन्द्र है। यह स्थिति है सान्ध्य स्थिति। इस स्थिति से जीव अपने प्रभु को लक्ष्य करके मुक्ति पाता है। तब सन्धिस्थिति अमृततुल्य हो जाती है। लक्ष्यभेद में औषधि बन जाती है। यदि अधः की ओर लक्ष्य किया तब वह मायाबद्ध संसारी हो जाता है। यहाँ की स्थिति विषतुल्य है। व्याधि है। पूर्ण चैतन्य हैं करुणापरायण। वह सुप्त जीव को जगा देते हैं। नाद से जगाते हैं, जिससे जाग्रत् जीव उनकी ओर अभिमुख हों, उनमें मिलकर मुक्त-सुखी हो सकें। जागने का अर्थ है चेतन होना। प्रसुप्तावस्था में चिन्मात्र था। चेतन नहीं था। चेतन होकर भी धारणा क्यों नहीं कर सकता? कारण, जीव है अणु। इसलिए उसमें स्वरूपानुभूति नहीं है। इसलिए धारणा नहीं होती।

प्रकारान्तरेण प्रबुद्ध जीव पूर्ण चैतन्य को स्वकीयरूप समझता है। इस ज्योति को बृहत् अथवा ब्रह्म समझता है। उसे यह बोध उत्पन्न होता है कि मैं ब्रह्म हूँ। यही है सर्वप्रथम अहंभाव का आश्रय। शुद्ध जीवमात्र। विशुद्ध जीव है दीपकलिका रूप घन ज्योति अथवा बिम्ब। ब्रह्म है दीप अथवा प्रकाश (प्रतिबिम्ब) या छाया। अतएव ब्रह्म = विशुद्ध जीव की बिखरी अवस्था। विशुद्ध जीव भगवदंश होने के कारण विशुद्ध है। विशुद्ध जीव का स्वरूप मनुष्यरूप—नररूप है। पूर्ण चैतन्य का स्वरूप भी वही है। प्रथम अंश है, दूसरा अंशी। यही अन्तर है। यह मनुष्यरूप स्थिरता सम्पन्न है। मुक्तावस्था में यह स्थिति पाई जाती है। हम जो मनुष्य देखते हैं, वह मनुष्यरूप स्थायी नहीं हैं, जन्म-ग्रहण से बदलता जाता है। जितने जन्म

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उतने रूप। प्रकृत मनुष्यत्व लाभ (मुक्ति) के अनन्तर वह नहीं बदलता। मूल मनुष्य आदिपुरुष है गुरुप्रकाश युक्त हंस। राम जो सब जीवों में रमण करते हैं, चैतन्य हैं शुद्धजीव, आत्मा।

हम अभी विकार में पड़े हैं। इसकी अवस्था आँखें बन्द करने से देखी जाती हैं (आँखें बन्द करने पर अन्धकार दिखता है)। खोलने पर ही विक्षिप्त अवस्था। यही अधोदृष्टि तथा बाह्य दृष्टि का दर्शन है। अधोदृष्टि से प्रकृति का आवरण दृग्गोचर होता है। यह अन्धकाररूपेण परिलक्षित होता है। बाह्य दृष्टि से (आँखें खोलने पर) जो जगत् है, वह उसी अन्धकार से उत्पन्न है। अन्धकार में स्थित और अन्धकार में ही लीन हो जाता है। यही है संसार। गुरुकृपा से इससे उद्धार होता है। सबसे पहले प्रकृति का जागरण चाहिये। विकृति से प्रकृति में जाना चाहिये। वह अन्धकार हमारी प्रकृति होकर स्थित है। वही प्रलयान्धकार है। उस अन्धकार से बाहर जाना है 'तमसः परस्तात्'। जो यथार्थ प्रकृति है, वह है ज्योतिर्मय। यह अन्धकार इसलिए व्याप्त है कि कुण्डलिनी निद्रित है। यही है जड़त्व, वासना क्लेश।

गुरु के कटाक्ष से हृदयाकाश आलोक से आप्लावित हो जाता है। भीतर प्रकाशित होता है एक स्वच्छ आकाश। उस समय चित् स्थूलदेह से बहुत कुछ निर्मुक्त होता है। देहात्मबोध लगभग नहीं रहता। जीव देह से बहिर्गत् होते ही चारों ओर एक अनन्त व्यापी आलोक समुद्र में संतरण करने लगता है। स्वयं हो जाता है द्रष्टा। द्रष्टा होने से स्वच्छ आकाश देखता है। जिसे पहले स्थूल जगत् समझा था, अब वह प्रतीत होने लगता है आलोक समुद्र की तरंग। तब ज्ञात होता है कि यह तरंग प्राक्तन इच्छा से उद्भूत है। इच्छोदय होते ही तदनुरूप दृश्य लक्षित होता है। पहले का दृश्य लुप्त हो जाता है, परन्तु यह लोप उसकी अपनी दृष्टि से होता है। जगत् की दृष्टि से लुप्त नहीं होता। इसीलिए यह दृष्टि भी सब्जेक्टिव है। ज्योति का विकास (विस्तार) होने से ही स्थूल का एक प्रतिबिम्ब उस ज्योति पर पड़ता है। उसी का सहारा लेकर द्रष्टा कार्य करता है। द्रष्टा की चिन्ता ही क्रिया है।

प्रकृति का विकास सम्यक् होने पर वह प्रतिबिम्ब जो अभी स्थूल आकार में था, अब अपने आकार में प्रकट होता है। पहले देव-देवी आदि चिन्त्य आकार उसमें परिलक्षित होते हैं। गहन तन्मयता होने से वे समस्त आकार सूक्ष्मरूप धारण करते हैं। तब जीव अपने आप ही स्वयं को देखता है। इसमें एक क्रम है, जैसे गणेश-दर्शन। पहले अपने विराट् आकार (प्रतिबिम्ब) में गणेश-दर्शन (हृदय में)। तदनन्तर वह पूरा का पूरा गणेश हो जाता है। इन सबके पश्चात् जगत्जननी प्रकृति का आविर्भाव होता है। यही देवता आदि की प्रसूति है। एक ऐसा समय आता है जब लगता है 'मैं ही प्रकृति हूँ'। जीव तब प्रकृति के स्वरूप में अपना दर्शन करता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। स्वयं को ही जगत् का प्रभव समझता है। तदनन्तर प्रकृति का दर्शन नहीं होता। स्वयं को वह जाग्रत पुरुष रूप में उपलब्ध करता है।

जीवभाव का शोधन किये बिना कैवल्य में जाने पर कभी-कभी शिवभाव प्रात्यर्थ दीक्षा लेनी पड़ती है। जीवभाव की पूर्णता ही आत्मदर्शन है। आत्मस्वरूप में स्थिति, तदनन्तर शिवभावोदय। तदनन्तर शिवभाव की पूर्णता से परमात्मदर्शन, तदनन्तर परमात्मस्वरूप में स्थिति। तदनन्तर पूर्णत्व। अपरोक्ष आत्मदर्शन की एक अवस्था है। तब त्रिगुणात्मिका प्रकृति से स्वयं को विविक्त पाया जाता है। तदनन्तर स्थिति होती है।

जो भगवद्-धाम में पहुँचते हैं, उनके अपरोक्ष भगवद्-दर्शन की भी एक अवस्था है। उस अवस्था में शुद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृति से अपने को विविक्तरूपेण पाया जाता है। बाद में स्थिति होती है। इसके अनन्तर है पूर्णता। उस समय अपने आत्मरूप का परमात्मरूप में तो दर्शन होता ही है, उसके अतिरिक्त अशुद्ध प्रकृतिरूपेण भी दर्शन होता है। वह भी होता है स्वयं में। इसलिए आत्मदर्शन अपूर्ण है। व्यापकतर होने पर भी परमात्मदर्शन भी अपूर्ण है।

आत्मदर्शन पहले परोक्षभाव से होता है। तदनन्तर अपरोक्ष भाव से होता है। अनात्मदर्शन द्वैतदृष्टि है। परोक्ष आत्मदर्शन भी वही है। लेकिन उच्चतर है। दोनों में ही प्रकृति से सम्बन्ध रह जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुरु

सत्शिष्य हो तब सद्गुरु आप ही आते हैं। सत् शिष्य वह है जिसे पूर्ण विश्वास है, जिसे संशय नहीं है, जो श्रद्धावान् है, स्वभावतः श्रद्धालु है। बाह्य विभूति आदि पाने के लिए श्रद्धालु नहीं है। सद्गुरु हों तब सत्शिष्य आप ही आयेगा। शिष्य का समस्त दोष कट जायेगा। अविश्वास भी कटेगा। सद्गुरु अर्थात् पूर्ण ब्रह्म, जो सामान्य अथवा विशेष ज्ञानवान् हैं, जिनमें सामान्य दया और विशेष दया, दोनों है। जो सर्वशक्तिमान हैं। सद्गुरु और सत्शिष्य में स्वाभाविक सम्बन्ध है। पूर्ण विश्वास (16 कला विश्वास) रहने से गुरु साथ-साथ हैं। उन्हें खोजना नहीं पड़ता। जब गुरु पूर्ण ब्रह्मरूप में कृपा करेंगे, तब शिष्य की योग्यता देखने का प्रश्न ही नहीं है। शिष्य जैसा भी हो, पूर्ण ब्रह्मरूप गुरु की कृपा से वह सिद्ध हो जाता है। द्रष्टा हो जाता है। कर्तृत्व कट जाता है। कुछ करना शेष नहीं रहता। पूर्ण विश्वास अहेतुक है। पूर्ण कृपा भी अहेतुक है।

सद्गुरु से दीक्षा मिलने से जन्म निरोध होता है। तभी से कुण्डलिनी विकसित होने लगती है। कुण्डलिनी का जागरण अर्थात् आत्मदर्शन। अब जन्मान्तर नहीं होगा—दीक्षा के अनन्तर कुण्डलिनी जागृति (मन्त्र का विकास) प्रारम्भ होती है। यही है उपासना का विकास। गुरु होने के लिए प्रथमतः ज्ञानशक्ति का विकास होना चाहिये। पुरुष द्रष्टारूपेण अवस्थित होना चाहिये। क्रियाशक्ति का भी विकास होना चाहिये। दीक्षा के समय गुरु ज्ञानचक्षु खोल देते हैं। उस चक्षु के समक्ष लक्ष्य (इष्टदेव) प्रकट होते हैं। इस चक्षु के समक्ष देवता सदैव प्रकट रहते हैं। लेकिन क्रिया से चक्षु के परदे को हटाना होगा। यह परदा स्थूलदेह का है। इसलिए मृत्युकाल में स्थूलदेह का सम्बन्ध टूटने से यह परदा हट जाता है। गुरुप्रदत्त ज्ञानचक्षु के सहारे जीव इष्टधाम को जाता है।

चक्षु

यहाँ चक्षु का वर्णन करना प्रासंगिक है। ज्ञानचक्षु तथा चर्मचक्षु में अनेक भेद हैं। चर्मचक्षु खोला बन्द किया जाता है। ज्ञानचक्षु सदैव खुला रहता है। ज्ञानचक्षु खोलने में इच्छा उसकी सहकारी होती है। इच्छा की साम्यावस्था ही ज्ञान है किन्तु ज्ञानोदय होने से ही ज्ञान पूर्ण नहीं हो जाता। वैसी स्थिति में इच्छा की साम्यावस्था ही ज्ञान है। किन्तु ज्ञान का उदय होने से ही तो ज्ञान पूर्ण नहीं हो जाता। वैसी स्थिति में इच्छा रहती ही है। वह इच्छा होती है तत्त्व विषयक। ज्ञानचक्षु खुले रहने पर जो दृष्टिगोचर होता है, वही है ज्ञेय सामान्य शुद्ध सत्त्व। उसका कोई विशेष रूपादि नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता। लेकिन इच्छा उसे अपने विषयाकार में परिवर्तित कर देती है। यदि राग को देखने की इच्छा है, तब वह शुद्ध सत्त्व ही राग-रूप में बदल जाता है। उस दर्शन से वह इच्छा निवृत्त—तृप्त हो जाती है। तब पुनः है शुद्धसत्त्व। समस्त आकार इच्छायोग से उस शुद्धसत्त्व के ही आकार हैं।

इस सामान्य चर्मचक्षु की रश्मि एक ही ओर धावित होती है, जबकि ज्ञान-रश्मि चतुर्दिक् धावित होती है। जब लिंगदेह में ज्ञानोदय होता है, तब वह उज्ज्वल होकर चतुर्दिक् प्रभा विकिरण करता है। उसके लिए दर्शनीय तथा ज्ञेय वस्तुमात्र ही सम्मुखीन है। यह रश्मि स्थूल नेत्र का विषय नहीं है। अब ज्ञानी इच्छानुसार किसी भी लोक को देख सकता है, परन्तु उस लोकस्थ जीव इस ज्ञानी को नहीं देख सकते। लेकिन जब वे किसी को दिखलाई देना चाहते हैं, तब उनको भौतिक स्तर में आना पड़ता है। अतएव जब साधक ज्योतिदर्शन करता है, तब यह समझ लेना चाहिए कि देवता-सिद्ध साधक के पास केवल उपस्थित ही नहीं है, प्रत्युत् दिखाई देने हेतु आये हैं। शुद्ध ज्ञानज्योति चर्मनेत्र का विषय नहीं है। चक्षु के बाहर का दृश्य स्थूल है। चक्षु बन्द करने पर जो अन्धकार है, उसका स्पष्ट दृश्य है सूक्ष्म (लिंग)। यह बुद्धिस्थ है। चक्षु बन्द करने पर जो अन्धकार दिखता है, उसके अन्तर्गत एक और अन्धकार है। उसमें जो दृश्य है, कारण है, यह पहले स्पष्टतः नहीं था। होता है; पुनः जाता है, पुनः होता है।

चक्षु वास्तव में एक है। वह दोनों बाहरी चक्षु के बीच में भीतर की ओर है। यही है शुद्ध मन। यहाँ द्रष्टा की स्थिति है। वहाँ एक Point है। इसलिए वह बिन्दु-स्थान है। वह एक चक्षु जब उस बिन्दु (Point) से मिलता है, अर्थात् जब वह बाहर नहीं आता, तब दृश्य-जगत् का भान नहीं होता। तब जगत् नहीं रहता। क्योंकि वहीं से प्रकाश आकर ही तो जगत् को प्रकाशित करता है। जगत् उस मन का विजृम्भण मात्र है। जगत् से समेट कर मन को उस स्थान में स्थापित करने से मन शुद्ध हो जाता है। जगत् अव्यक्त हो जाता है। निर्विकल्पक समाधि (मनोरोध) वहीं पर होती है। वहीं द्रष्टा की स्वरूप-स्थिति अथवा आत्मसाक्षात्कार है। वहाँ गुण की क्रिया नहीं है। इसलिए वहाँ ज्योति भी नहीं है। केवल स्वप्रकाश आत्मचैतन्य है। नीचे, बुद्धितत्त्व तक ज्योति है। इसलिए कि गुण हैं। ज्योति सत्त्वगुण से ही विकास पाती है। सत्त्व या मन शुद्ध आत्मसम, आत्मा के साथ अभिन्न हैं और सत्त्वक्रिया न होने के कारण आत्मा भी परमात्मा से अभिन्न है।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद एवं सूर्य

जहाँ तक वेद का प्रकाश है, वहाँ तक त्रिगुण है। उसके बाद वेद भी नहीं, गुण भी नहीं, उसी स्थान में जाना होगा। जिस प्रकाश में गुणों को एक-सा देखा जाता है, पृथक् नहीं दिखलाई देता, वही मूल वेद है। वह अविभक्त है। अव्यक्त है। उसमें प्रकृति परिलक्षित होती है। यही बिन्दु है। विभाग होने से प्रकाश तीन प्रकार का होता है। परन्तु जो मूल है वह अवश्य प्रत्येक विभाग में रहता है। प्रकाश भिन्न होता है। अतएव दृश्य भी तीन प्रकार का दिखता है। यही है तीन गुण। ये तीनों प्रकाश विभक्त होकर भी आपस में मिले होते हैं। क्योंकि मूल एक है। परन्तु एक-एक प्रकाश में केवल एक-एक प्रधान होता है। गुण भी ऐसा ही है। वेदों के अविभक्त प्रकाश के विभक्त होते ही कलियुग आ जाता है।

सूर्य ही वेद का रूप है। अतएव वेद का अतीत होना जो है, सूर्यमण्डल का भेद करना भी वही है। वेद अथवा सूर्य से ही प्रपंच अथवा सृष्टि का आविर्भाव होता है। तदनन्तर उसमें ही तिरोभाव इसका अतिक्रमण किये बिना मुक्ति नहीं है। वेद अथवा सूर्य के पश्चात् जो है, उसे ही जानना ज्ञान है। अतः तीन स्तर मिलते हैं। पहला है वेदातीत = चैतन्य-आत्मा अथवा ब्रह्म। द्वितीय है वेदभूमि = देवता या द्विज। तृतीय है वेद के बाहर, प्रपंच अथवा भौतिक जगत् = शूद्र।

सूर्य एक स्वच्छ प्रतिफलक मात्र है। ऊपर जो महाबिन्दु है, उसमें करोड़ों क्षुद्र बिन्दु हैं। ये सब महाबिन्दु में नित्य लग्न हैं। उसके अंश हैं, पर नित्य हैं। यही अव्याहत कला है। महाबिन्दु की प्रेरणा से ये सब सूर्य में पड़ते हैं, सूर्य में प्रतिफलित होते हैं। रेखा के रूप में सूर्य में उतरते हैं। यह रेखा सरल तथा विच्छेद रहित होती है—अखण्ड। इसे 'अंशु' कह सकते हैं। इस तरह से समस्त बिन्दु का, यहाँ तक कि महाबिन्दु का प्रतिफलन भी सूर्य में होता है। महाबिन्दु है महाशक्ति। यह ज्योति अथवा चैतन्यशक्ति है। कला भी यही है, अंशु भी यही है। सूर्य के बहिःप्रदेश में एक वायु घूर्णित होती रहती है। वह है काम। वहाँ सदा एक बहिर्मुख धक्का पैदा होता है। वहीं से वक्र गति का आरम्भ होता है। सूर्य-रश्मि वक्र होती है। अर्थात् श्वास-प्रश्वास, उन्मेष-निमेष, उत्थान-पतन, आविर्भाव—तिरोभाव से युक्त अर्थात् विच्छिन्न बिन्दु समष्टि। इसलिए मिश्रण होता है। क्योंकि बीच-बीच में शून्य है। वहाँ विजातीय बिन्दुओं का समागम होता है। जड़ जगत् की सभी वस्तु ऐसी ही मिश्रित है। सूर्य के उस पार प्रकाश विकीर्ण नहीं होता। कला मात्र ही अन्तर्मुख है। इसीलिए विलीन तथा अव्यक्त है। परन्तु पार्थक्य है। जड़ सम्बन्धवशात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी अभिव्यक्ति होती है। सूर्य के इस पार निरन्तर विकिरण होता रहता है। उस पार है कारण या सूक्ष्म। इस पार है कार्य या स्थूल। बीच में है लिंग स्थानीय सूर्य। ऊर्ध्व रश्मि द्वारा सूर्य प्रतिपल अमृतपान करते हैं। उस रश्मि ने सूर्य को सदैव षोडशी से जोड़ रखा है। वह अखण्ड रेखा है सरल रेखा।

अधोदिशा में सूर्य के दो पथ हैं। वाम तथा दक्षिण। इन दोनों के आवर्त्त से बहुत्व का विकास होता है। इन दोनों पथों के समान हो जाते ही सूर्य का विकिरण बन्द हो जाता है। सृष्टि बन्द होती है। ऊर्ध्वरश्मि प्रकाशित होती है। अमृतपान का सुयोग आता है। उस रेखा से ही चन्द्रकला सूर्य पर पड़ती है। वह रेखा भी जब नहीं रहेगी, तब सूर्य भी निर्वाण प्राप्त करेंगे।

शुद्ध सत्त्व रूप उज्ज्वल गोलक—सूर्य तब चिदाकाश में है। बुद्धि सत्त्वरूप उज्ज्वल गोलक—तब सूर्य चित्ताकाश अथवा हृदयाकाश में है। बाह्य सूर्य—भूताकाश में। बाह्य सूर्य में इन्द्रियग्राह्य जगत् प्रकाशित होता है। आन्तर सूर्य (बुद्धिसत्त्व में) मानसजगत् सूक्ष्मजगत् आलोकित होता है। चिदाकाश के सूर्य से कारण-जगत् तथा नित्यधाम प्रकाशित होते हैं। सामान्य मनुष्य आँखें बन्द करने पर एक ही गोलक देख पाता है। बाह्य जगत् में हम जैसे नाना-स्थान से एक ही सूर्य देख पाते हैं, उसी तरह भीतर भी वही एक सूर्य देखते हैं, क्योंकि बुद्धि एक ही है। लेकिन देहभेदवशात् उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधक एवं योगी

संसार में दो प्रकार के साधक हैं। संन्यासी एवं योगी। संन्यासी कर्मत्यागी और फलत्यागी है। योगी है कर्म तथा फलग्राही। अर्थात् फल एवं कर्म कार्य-कारणरूप में बद्ध है। योगी सिद्धि हेतु कर्म करता तथा फल पाता है। जो फल नहीं चाहता, वह कर्मत्याग कर देता है। वह सोचता है कि जब फल ही नहीं चाहिये, तब कर्म क्यों किया जाये? परिश्रम का क्या प्रयोजन? वह नैष्कर्म्य का अवलम्बन लेता है। वह संन्यासी है। योगी है कर्ममार्गी, सकाम है। इसलिए फल-कामना के साथ कर्म करता है। फल पाता भी है, परन्तु फल है अनित्य। ब्रह्मलोक का ऐश्वर्य भी अनित्य है। अतएव जो ज्ञानमार्गी है, वह निष्काम है। फल नहीं चाहता। उसकी दृष्टि में फलमात्र अनित्य है। अशान्तिप्रद है। अतः फलाकांक्षा ही नहीं है, तब कर्म क्यों?

भगवान् गीता (6/1) में कहते हैं कि ये दोनों ही आदर्श क्षुद्र हैं। वास्तव में ऐसा योगी तथा ऐसा संन्यासी—दोनों अपूर्ण है। जो पूर्ण योगी है और पूर्ण संन्यासी है, उसमें कर्म तथा अकर्म एकाकार है। अर्थात् फल न चाहकर भी कर्म करता है अथवा कर्म नहीं छोड़ता, प्रत्युत् फलत्याग करता है। गीता का आदर्श पूर्ण योग तथा पूर्ण संन्यास है, जिसमें क्षर-अक्षर दोनों का लाभ होता है, साथ ही दोनों से निर्लिप्त भी रह सकते हैं। इससे उसे पुरुषोत्तम का लाभ होता है। उसके कर्म का फल जगत् को मिलता है। क्योंकि वह फल नहीं चाहता, परन्तु कर्म करता है। (जब कर्म करेगा, तब फल होना निश्चित है, परन्तु वह फल ग्रहण नहीं करता, इसलिए वह जगत्-कल्याण में प्रयुक्त फल हो जाता है)। सकाम कर्म से जगत् का उपकार नहीं होता।

गीता के अनुसार अपना तथा पराया एक होना चाहिये। इसमें ज्ञान-कर्म का समन्वय है। ज्ञान की निष्काम दिशा से कर्म की मलिनता नष्ट हो जाती है। पुरुषोत्तम का आदर्श यही है—क्षर तथा अक्षर का समन्वय। आदर्श योगी तथा संन्यासी कार्य-कर्म करते हैं। कार्य-कर्म है स्वभावज कर्म-स्वधर्म-हृदयस्थ ईश्वर-प्रेरणा। उनके कर्म करने का तात्पर्य है ईश्वरादेश का पालन अथवा स्वप्रकृति नियोग से चलना। यही है स्वकर्म पालन-गुरुवाक्य का पालन—ईश्वराज्ञा का पालन। यही है शास्त्र को मानना, क्योंकि शास्त्र कार्य-कर्म बतलाता है। शास्त्र = शास्ता अथवा ईश्वर-गुरु का निर्देश। इसी में अपना भी कल्याण है तथा जगत् का भी।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्म

धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान एक साथ होता है। कभी-कभी ऐसी अवस्था होती है। परन्तु यह अवस्था होने से भगवान् आत्मसर्जन करते हैं, और यह करके धर्म की ग्लानि को निवृत्त करते हैं। अधर्म के उत्थान को भी निवृत्त कर देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे धर्मरक्षक हैं। वास्तव में वे चाहते क्या हैं? (1) धर्म रहे, अधर्म न रहे। (2) धर्म तथा अधर्म दोनों ही रहें, परन्तु धर्म प्रबल रहे, अधर्म दुर्बल रहे। (3) धर्म तथा अधर्म समानतः प्रतिष्ठित रहें।

वह जो भी चाहें, स्थायी नहीं होता। यदि होता तब उन्हें यह श्लोक न कहना पड़ता—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता 4/7)

धर्म की ग्लानि तथा धर्म के अभ्युत्थान का यह श्लोक वे न कहते। उनको प्रकट ही न होना पड़ता। अतएव यह समझना होगा कि एक प्रतिकूल शक्ति संसार में कार्यकारी है, जो भगवत्-विरोधी है। वह कभी-कभी प्रबल होती है। तब धर्म-ग्लानि तथा अधर्मोत्थान होता है, तब भगवान् की आत्मसृष्टि प्रबल हो जाती है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि जीव-जगत् के कल्याणार्थ भी अधर्म प्रबल हो जाता है। धर्म अभिभूत होता है। भगवत्-अस्तित्व के रहते ऐसा होता है।

इसके मूल में एक शाश्वत द्वन्द्व का आभास मिलता है। एक ओर धर्म, दूसरी ओर अधर्म। यह तो संसार में सदा रहते आये हैं। ये दोनों शक्ति जीव के आश्रय से कार्यरत हैं। कभी धर्म प्रबल है, कभी अधर्म। कभी दोनों समान हैं। पहली दो अवस्था द्वन्द्व की है। तीसरी है द्वन्द्वातीत की। द्वन्द्वावस्था वैषम्य की है। संसार वैषम्यमय है। यह वैषम्य रहेगा ही। किन्तु शुद्धजगत् में धर्म की प्रबलता स्वभावसिद्ध है। इसी प्रकार मलिन जगत् में अधर्म की प्रबलता है। जगत् के बाहर साम्य है। शुद्धजगत् में धर्म की ग्लानि नहीं होती, अतः भगवान् को आत्मसृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। अधर्म अवश्य वहीं है। यदि यह न हो, तब धर्म की मधुरता कैसे हृदयंगम होगी?

अतएव भगवान् की आत्मसृष्टि (अवतार) अशुद्ध जगत् हेतु है। यह पूर्णतः सत्य है। लेकिन भगवान् करते क्या हैं? अशुद्ध जगत् में आकर साधु का परित्राण, दुष्कृतों का विनाश तथा धर्म-स्थापना करते हैं। धर्म की स्थिति भंग थी, तभी साधु विपन्न थे, दुष्कृति प्रबल थे। धर्म का नियम यदि सम्यक्रूप से क्रियाशील रहता, तब साधु विपन्न न होते, दुष्कृत्य करने वाले सम्पन्न न होते। नियम की स्थापना ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्म की स्थापना है। तभी भगवान् की आत्मसृष्टि होती है। नियम-भंग होता है, उसका दण्ड भी है। इस स्थिति में जीव का स्वातन्त्र्य मानना ही होगा। स्वतन्त्र क्रिया तथा स्वतन्त्र इच्छा को मानना ही पड़ता है, अन्यथा दण्ड-विधान क्यों होता?

जीव अधर्म करने के लिए स्वतन्त्र है, भले ही बाद में दण्ड मिले। जिस धर्म के रक्षाकर्त्ता भगवान् हैं, उसकी भी स्थिति-मर्यादा भंग हो सकती है। तभी धर्म-स्थापन की आवश्यकता है। अन्त में धर्म की जय होती ही है, तथापि अस्थायी भाव से अधर्म प्रधान हो ही जाता है। यहाँ प्रश्न उत्थित होता है कि धर्म की ग्लानि भगवान् सहते क्यों हैं? यदि वे क्षण के लिए भी सह सकते हैं, तब दीर्घकाल पर्यन्त क्यों नहीं सहेंगे और चिरकाल पर्यन्त क्यों नहीं सहेंगे? इसका भी उत्तर है। पूर्ण है महाशक्ति। भगवान की इच्छा के विषय को मंगल-सत्यज्ञान कहते हैं। जीव की इच्छा भगवद्-इच्छा के अनुकूल भी हो सकती है, प्रतिकूल भी हो सकती है। इसे स्वातन्त्र्य है। तभी तो लीला सम्भव है। अनुकूल होने से वह दैवी प्रकृति वाला है। प्रतिकूल होने के कारण आसुरी प्रकृति वाला है।

इस दैवी तथा आसुरी प्रवृत्ति का संघर्ष सदा चलता रहता है। जीत होती है भगवद्-इच्छा की, क्योंकि दैवी प्रकृति की पृष्ठभूमि में यही है। आसुरी प्रकृति वास्तव में भगवद्-इच्छा से युक्त नहीं होती। वह सान्त होती है, भले ही तपस्या-साधना से उनकी शक्ति बढ़ती चली जाती है। लेकिन प्रतिकूल स्रोत होने के कारण उसे ऐशी शक्ति के सम्मुख (सान्त होने के कारण) अवसन्न हो जाना पड़ता है। वह आसुर बल कब अवसन्न होता है? जब और नहीं चल सकता। जैसे पूर्णिमा में कला की पूर्णता हो जाने पर वह क्रमशः क्षयीभूत होने लगती है। अमावस्या में कला शून्य हो जाती है, तदनन्तर पुनः कलावृद्धि क्रमशः होने लग जाती है। इसी तरह धर्म की ग्लानि अर्थात् लोयेस्ट लेबेल। अब अधर्म का उत्थान होने लगता है। तदनन्तर क्रम बदल जाता है। धर्म बढ़ता है, अधर्म घटने लगता है। यह प्राकृतिक नियम है। दैवी हस्तक्षेप नहीं है। काल-देश तथा समाज की स्थिति के अनुसार इसका भेद होता है। व्यक्तिगतरूपेण यह भी हो सकता है।

जो जन्मादिहीन तथा भूतगण के अधीश्वर हैं, उनकी सम्भूति नहीं होती। जो सादि-सान्त तथा भूताधीन है, उसकी ही सम्भूति होती है। परन्तु अनादि-अनन्त-भूतेश्वर की भी सम्भूति होती है—कब?

यह होता है धर्म की रक्षा के लिए, स्वप्रकृति में अधिष्ठित होकर आत्ममाया की क्रिया से। स्वप्रकृति में अधिष्ठित हुए बिना आत्ममाया की क्रिया नहीं हो सकती। आत्ममाया की क्रिया होती है, फलतः स्वप्रकृति अधिष्ठित आत्मा सम्भूत हो जाती है।

•

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगम पथ

जैसे कोई शब्द सुनते हैं। इस शब्द का अनुधावन करना चाहिये। गहरी निस्तब्ध रात्रि है। मन को तत्काल उसी में लगाये। जैसे-जैसे शब्द सूक्ष्म होता जायेगा। लेकिन मन शब्द को तब भी न छोड़े। यदि छोड़ दिया तब उसका किनारा (छोर) छूट जाने से पुनः नहीं मिलेगा। इस प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसार मन उसका अनुसरण करेगा। परन्तु मन सीमाबद्ध है, इसलिए कुछ दूर जाकर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। निष्क्रिय होगा, निवृत्त होगा। आत्महारा होकर लीन हो जायेगा। यही मनोवृत्ति-निरोध (योग-समाधि) है। अब चैतन्य का प्रकाश होता है। यद्यपि चैतन्य स्वप्रकाश है, तब भी वहाँ एक प्रकार से मन है। अन्त में तनिक भी नहीं रहेगा। कोई भी शब्द पहले एक स्तर पर्यन्त वैचित्र्य के साथ चलेगा, तदनन्तर अखण्ड नाद में परिणत होगा। जब तक मन है, तब तक नाद सुनने योग्य है। जब मन जड़ स्तर का भेद कर लेगा तभी चैतन्य प्रकाशित हो सकेगा। तदनन्तर मन भी नहीं रहता। चैतन्य भी नहीं रहता। यही है अद्वैतावस्था।

प्रथम है श्रुतिगम्य शब्द, जिसका अनुसरण किया जाता है अर्थात् वैखरी, यह आहत शब्द है। तदनन्तर जब कान से नहीं सुनना है, तब भी वह शब्द सुनाई देगा। वह मध्यमा है। अनाहत अथवा ओंकार। तदनन्तर है अशब्द स्थिति। यह है पश्यन्ति। यहाँ मन भी चैतन्य है। शब्द भी चैतन्य है। तदनन्तर है परा।

जहाँ शब्द है, वहीं आकाश है। जहाँ निरन्तर स्थूल शब्द होता है, यह स्थूलाकाश है। इसके अनन्तर है सूक्ष्म आकाश, वहाँ अनाहत शब्द होता है। वह है अन्तराकाश। स्थूलाकाश में जो शब्द होता है, वह आघातजन्य है। वह अनित्य है। वह विचित्र है। अन्तराकाश ही चिदाकाश है।

□ □ □ □

कृत्रिम तथा स्वाभाविक वस्तु में भिन्नता है। जैसे कृष्ण का कृत्रिम चित्र तथा किसी व्यक्ति का जीवन्त चेहरा। मनोभूमि में जिस स्वाभाविक वस्तु का आभास होता है उससे बीज मिल जाता है, किन्तु कृत्रिम के आभास से बीज नहीं मिलता। सूक्ष्म तथा मनोमय एक जैसे नहीं हैं। कारण से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल। सूक्ष्म में जाने पर वहाँ से कारणसत्ता का अनुसन्धान हो सकता है।

□ □ □ □

दोनों के शुद्ध होने से ही दोनों का मिलन हो सकना सम्भव है। पहले शोधन, तब बोधन। फल है मिलन। शोधन का फल है सत्त्वलाभ। बोधन का फल है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिद्भाव (चैतन्योन्मेष), मिलन का फल है आनन्द। एकत्व में कुछ भी पता नहीं चलता। इन तीन क्रियाओं से ही एकस्तर से अन्य में जा सकते हैं। तब वह स्तर अतिक्रान्त होता है। वहाँ भी क्रम है। प्रत्येक स्तर में यदि आनन्द नहीं मिला, जब स्तर का सार आयत्त नहीं हो सके, तब तक उसे पार करके ऊपर जा सकना सम्भव नहीं है।

अशुद्धावस्था में मिलन नहीं होता। अशुद्धावस्था है सुप्तावस्था। सुप्तिभंग (जागरण) के अभाव में गति नहीं होती। गति के अभाव में मिलन कैसे? मिलन का फल है आनन्द। बाह्यजगत् (विषयात्मक) जड़ अर्थात् सुप्त है। पहले इसे चेतन करना होगा। चेतन होगा शुद्ध करने से। यह बाह्य जगत् जंगते ही मेरी देह से मिलने के लिए धावमान होगा। प्रत्येक विषय अपनी-अपनी इन्द्रियों में लीन होगा। जैसे रूप चक्षु में। शब्द कर्ण में, आदि। इस प्रकार यह चेतन रूपादि विषय (शुद्ध विषय) ही इन्द्रियों को चेतन करता है।

इन्द्रियाँ चेतन होकर मन की ओर प्रधावित होती हैं। अब चेतन मन आत्मा की ओर दौड़ पड़ता है। आत्मा में चैतन्य आ जाता है। यह चेतन आत्मा ही साक्षी है। चेतन भाव की वृद्धि से वही शिव है। इसका और विकास हो, तब यही है परमशिव। अब परमशिव तथा परमाशक्ति, दोनों ही जाग्रत् हैं। दोनों का मिलनजन्य आनन्द है परमानन्द। आनन्द ही बिन्दु है। उसी से जगत्-सृष्टि होती है। बिन्दु ही कारण है। रेखा ही सूक्ष्म कार्य है। त्रिकोणादि यन्त्र सूक्ष्म का ही विभाग है।

मन (चित्त) का लय होता कहाँ है? चित्त जब कार्य करता है, व्यवहार-पथ में रहता है, क्रियाशील रहता है—तब नाना स्थान में जाता है। लेकिन जब विश्रान्त रहता है, तब अपने धाम अथवा घर में रहता है। यही उसकी प्रकृति है। चित्त है प्रकृति का कार्य। उसे बाहर जगाये नहीं रख सकने से अपनी प्रकृति अन्दर खींच लेगी। (लय हो जायेगी) भोग तथा अपवर्ग ही चित्त को जगाये रखने का उपाय है। भोग में चित्त बहिर्मुख रहता है। अपवर्ग की चिन्ता में अन्तर्मुख रहता है।

चित्त जिस स्तर में है, उसका भोग भी उसी स्तर का है। अयोगी अवस्था में अर्थात् क्षिप्त, विक्षिप्त या मूढ़ावस्था में यही है संसार-भोग। अब इस स्थिति में चित्त अपनी प्रकृति से ऊर्ध्व नहीं उठता। चित्त की जो प्रकृति थी, वही रह जाती है। कर्मबल से चित्त चाहे जैसे संचार करे, प्रकृति पूर्ववत् रहती है। उसका बिन्दुमात्र भी उत्कर्ष नहीं होता। उत्कर्ष होता है ज्ञान से।

चित्तैकाग्र्य से ज्ञानोदय होता है। तब उस प्रकृति का साक्षात्कार होता है। फल है वैराग्य। यह प्रकृति अन्तर्हित होती है। द्वितीयतः प्रकृति का विकास होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। वहाँ भी भोग है। उसमें मत्त हो जाने पर उसी स्थान पर स्थिति होती है। एकाग्रता द्वारा उत्कृष्टतर ज्ञान का उदय होता है। तब उस द्वितीय प्रकृति का दर्शन होता है। फल है वैराग्य। अब तृतीय प्रकृति का आविर्भाव होने लगता है। ज्ञान के अभाव में वैराग्य नहीं तथा वैराग्य के अभाव में उच्चतर ज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश नहीं। यही नियम है। पहले पुण्यकर्म की स्थिति है। फल है पाप-दुःख से मुक्त होकर स्थायी सुख-प्राप्ति। कर्म से ही उपादान तैयार होता है। तब सिद्धलोक में स्थिति होती है। संसार तथा सिद्धलोक के मध्य एक शून्य है। वह है लयस्थान। यह अन्धकारमय है। वहाँ जाने पर सुख-दुःख भले ही नहीं रहता, तथापि व्युत्थान होता है। ऊर्ध्वगति नहीं होती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सृष्टि-काम रहस्य

सृष्टि के मूल में एक अद्वय वस्तु है। उसमें काम उत्पन्न होने से दो हो गये (काम = इच्छा)। पहला पुरुष, दूसरा प्रकृति। पुरुष में भी प्रकृति है। प्रकृति में भी पुरुष है। तदनन्तर दोनों मिलकर एक हो गये—यही है जीव (सन्तान)। परम पुरुष और परमा प्रकृति से दो प्रकार से सृष्टि का विस्तार होने लगा। पहले—पुरुष से पूर्ववत् पुरुष तथा प्रकृति का विकास हुआ। द्वितीयतः दोनों के मिलन से जीव पैदा होता है। उसे सन्तान कहते हैं। इसमें पुरुष का भी अंश रह सकता है, प्रकृति का भी रह सकता है। पुरुष तथा प्रकृति की सृष्टि ब्रह्मनिष्ठ काम से होती है। उसी मूल 'काम' के कारण सृष्टि का क्रमिक विकास होता है। यह है अद्वैत काम, जो एक को दो कर देता है। जीव की सृष्टि ब्रह्मनिष्ठ काम से नहीं होती। वह सृष्टि होती है पुरुष-प्रकृति के काम से। यह द्वैत काम है जो दो में रहता तथा दो को एक करता है।

ये दोनों ही काम बहिर्मुख हैं। अतः पुरुषोत्तम में दो काम हैं (दोनों बहिर्मुखीन काम हैं)। एक है ब्रह्मनिष्ठ काम का प्रतिबिम्ब, दूसरा है पुरुष का स्वकीय काम। यह द्वैत काम है, जो प्रकृति के मिलने की आकांक्षा रखता है।

ब्रह्म से सृष्टि दो रूप में होती है—स्वभाववश तथा कामवश। स्वभाववश सृष्टि शुद्ध है। वह स्वभाव से निर्गत होती है। स्वभाव में ही लौट जाती है। उसकी स्थिति भी स्वभाव में है। वहाँ एक साथ है सृष्टि-स्थिति संहार-नित्यलीला। वहीं है इच्छा की उत्पत्ति, बीज का आविर्भाव। यह स्वभाव सृष्टि है अर्थात् कारण-जगत् का आविर्भाव।

शंकर ने काम को दग्ध किया ज्ञाननेत्र की ज्योति से। काम को दग्ध करने के पहले वे पूर्ण ज्ञानी नहीं हुए थे। ज्ञानाग्नि में वही थी अन्तिम आहुति। पहले जो दग्ध हुआ वह काम का कार्यमात्र था। इस बार मूल काम स्वयं दग्ध हो गया। ज्ञान की पूर्णता के अनन्तर उन्होंने (शिव) विवाह किया। निष्काम होकर ज्ञान की पूर्णता से उनको शक्ति मिली (विवाह हुआ)। बिन्दु मात्र काम के रहते आद्याशक्ति को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस विवाह से जन्म हुआ कुमार का, जो ब्रह्मचर्य तथा बल के प्रतीक हैं, जो देव सेनानी हैं। तारकासुर वधार्थ ऐसी ही सन्तानें चाहिये। एक प्रकार से शंकर को पार्वती के योग्य होने के लिए कामजयी हो शुद्धज्ञानी होना पड़ा था। दूसरी ओर शक्ति (पार्वती) को भी शिव के योग्य होने के लिए तपस्याचरण करना पड़ा। जो आद्याशक्ति थीं तथा शुद्ध विद्या युक्त थीं, उन्हें भी तप करके शुद्ध होना पड़ा। उनका मन अशुद्ध था? यह उनका दोष नहीं। मर्त्यलोक की गन्ध आ गयी। शिव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में भी किंचित् क्षोभ था, पार्वती में भी था। काम-दाह से वह जाता रहा। तब दोनों शुद्ध हो गया।

वासना क्या है? जैसे जल की कमी, अर्थात् जल की वासना। वासना का अर्थ है कला का अभाव-बोध। अभाव की सत्ता न होने पर अभाव का बोध कैसे हो सकता है? इसलिए कला का अभाव ही अभाव है। अतः कला की आपूर्ति आवश्यक है। कला का क्षय होना ही कला के अभाव का कारण है। भोग से कला क्षय होती है। मलिन होती है। शुद्ध कला आने से उसका भोग नहीं होता, क्षय भी नहीं होता। शुद्ध कला द्वारा अभाव की जो निवृत्ति होती है, वह स्थायी है। अतः शुद्ध कला ही स्थायी आनन्द का उपाय भी है। शुद्ध कला की स्वजातीय है मलिन कला। अभाव किस वस्तु का जगता है? कला का। शुद्ध कला न मिलने के कारण मलिन कला से ही अभाव मिटाना पड़ता है। परन्तु इससे अभाव पुनः जाग जाता है। शुद्ध कला माया से उर्ध्व में पायी जाती है। अतः गुरु कहते हैं कि भले ही काम-वासना जगे, कदाचित् मलिन कला का योग भी हो, तब भी साधना करते रहो। उससे शुद्ध कला का संचार होगा। काम-वासना की शान्ति होगी। यही है वासना का उपशम। भीतर प्रकृति में अभाव है और अभाव का बोध है। यह दबाने से अभाव नहीं मिटेगा। कोई भी प्रकृति को अपूर्ण रख कर मुक्त नहीं हो सका है। प्रकृति की पूर्णता के लिए चाहिये पुरुष अथवा कला। प्रकृति में जिस अनुपात में न्यूनता है, उसे उसी अनुपात में पुरुषांश अथवा कला द्वारा पूर्ण करना होगा। तब पुरुष और प्रकृति के मिलन से आनन्दोत्पत्ति होगी।

अशुद्ध कला का संस्कार और क्रम-विकास होने से एक ऐसी पूर्णता आती है, जिससे वहाँ शुद्ध कला की सम्भावना हो जाती है। इस विकास से कुछ ज्योति आती है। उसी से ज्ञान तथा क्रिया सम्भव होती है। चौरासी लाख योनि यह प्रथम स्तर है। द्वितीय स्तर है मनुष्य-देह में कला के द्वितीय स्तर का विकास। यहाँ है ज्योति का आभास। द्वितीय ज्योति। प्रथम स्तर में देहात्मबोध स्पष्ट नहीं है। अन्नमय तथा प्राणमय कोष रहते हैं। द्वितीय स्तर में देहात्म-बोध स्पष्ट है। अब अन्नमय-प्राणमय के साथ मनोमय कोष भी है। तृतीय स्तर है दीक्षा—फल है शुद्ध कला संचार। इससे दिव्य ज्योति का विकास, षट्चक्र भेद, ज्ञाननेत्र उन्मीलन होकर देहात्मक बोध मिटता है। यहाँ है विज्ञानमय कोष। चतुर्थ स्तर है आनन्द, उसके अनन्तर और भी कला! श्रेष्ठतर ज्योति मस्तकस्थ चक्षु (दिव्य चक्षु के परे वाले चक्षु) खुलते हैं। अब है पंचम स्तर तुरीय।

अब चारों ओर के चक्षु खुलते हैं। फल है अनन्त कला-व्याप्ति। षष्ठ है निर्वाण।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यापकता

एक भूमि में स्थिर होकर प्रभा चतुर्दिक् छिटक पड़ती है। यही है व्याप्ति। जहाँ भी स्थिति हो (साधना में) वहीं मस्तक के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में अव्यक्त सत्ता की उपलब्धि हो सकती है। स्थिति होने के अनन्तर क्रिया के फलस्वरूप अव्यक्त सत्ता के आपूरण से स्वकीय प्रभा चतुर्दिक् छिटक जाती है। सबका प्रभामण्डल समान नहीं होता। किसी का जगद्व्यापक होना भी विचित्र बात नहीं है (अर्थात् उसका प्रभामण्डल जगद्व्यापक होता है)। किसी की व्याप्ति कम होती है, किसी की अधिक। ऐसी हालत में उच्चता अथवा निम्नता का कोई कारण नहीं होता। निम्नभूमि में स्थित भी (साधनादि से) सर्वव्यापक हो सकता है। ऊर्ध्वभूमि वाले की व्याप्ति अधिक होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते। यह भी हो सकता है कि चाहे ऊर्ध्व में रहे अथवा निम्न में, जहाँ कहीं भी रहे, तथापि व्याप्ति बिल्कुल न हो। ऐसा हो सकता है कि स्थिति है, व्याप्ति नहीं है। अथवा स्थिति-व्याप्ति, दोनों ही है। यही निर्वाणावस्था है। स्थिति है, व्याप्ति नहीं = यह है सांख्य का आत्म कैवल्य। स्थिति नहीं है तथापि व्याप्ति है = यह है वेदान्त का ब्रह्मकैवल्य। दोनों ही एकरूपावस्था है। वास्तव में यहाँ सभी वृत्त ही बिन्दु अथवा केन्द्ररूप हैं। अर्थात् स्थिति व्यापक है। बहु आत्मा के बहुत्व के रहने पर भी जो कैवल्य है, वह सांख्यीय कैवल्य है। बहु आत्मा जब एक आत्मरूपेण कैवल्य प्राप्त करता है, तब वह है ब्रह्मकैवल्य।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवोद्धार

सभी ज्ञानी अथवा योगी सभी जीव का उद्धार नहीं कर सकते। सभी जीवों में शुद्ध कण कहीं न कहीं अवश्य है। किसी में ये कण ऊपर होते हैं, किसी में दबे रहते हैं। जो योगी उस सत्त्व को देख सकेगा, वह उस सत्त्व को दृष्टि के द्वारा निखार कर अथवा बढ़ाकर उसमें बाहर का सत्त्व ढाल सकेगा। यदि इसे योगी न देख सके, तब वह उस सत्त्व का उद्धार नहीं कर सकेगा। अधिक शक्तिशाली इसे देख कर उस जीव का उद्धार कर सकते हैं। यदि जीव में यह विशुद्धकण नहीं है, तब उस जीव का उद्धार करने की क्षमता किसी में भी नहीं है। यह कण जीवसृष्टि के साथ-साथ आता है। तभी सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर (अथवा बुद्ध आदि) सभी जीवों का उद्धार कर सकते हैं, परन्तु अन्य ज्ञानी सबका उद्धार नहीं कर सकते। कुछ का ही कर पाते हैं।

उस शुद्ध कण पर गुरु की दृष्टि रहती है। अतएव वह कण क्रमशः वर्द्धित होता है। गुरु दृष्टि न डालें, तब वह बढ़ नहीं सकता। यदि जीव में आकुलता-चंचलता (प्राप्ति हेतु) है, तब गुरु की दृष्टि स्वयमेव हो जाती है, तब यह वर्द्धित होगा ही।

जीव के लिए गुरु का वाक्य ही सब कुछ है। साधन करते-करते उनका चरण प्रकट होता है। उनका वाक्य ही मन्त्र है। पूजा का मूल उनका चरण है। पूजा करते-करते रूप प्रकट होता है, तब ध्यान होगा। ध्यान करते-करते उनकी कृपा प्रकट होती है, जिससे जीवोद्धार होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्त

चित्त में एक आलम्बन तथा एक प्रकृति अथवा आश्रय होता है। आलम्बन रहित चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है। वह जाग नहीं सकता। उसे सतत जाग्रत् रहने हेतु आलम्बन चाहिये। आलम्बन के उत्कर्षानुसार उसका ज्ञानोत्कर्ष होता है। ज्ञान की चरम शुद्धता के अनन्तर आलम्बन नहीं रहता। यह निरालम्ब ज्ञान ही चैतन्य पुरुष है। आलम्बन है तब चित्त ज्ञानयुक्त है। जब आलम्बन नहीं है—तब है जड़ अथवा प्रकृतिलीन। वैराग्यभेद से निरालम्ब चित्त की प्रकृति का तारतम्य होता है। भोग के अन्त में होने वाला वैराग्य तथा अपरोक्ष ज्ञान से उदित वैराग्य, ये दोनों एक नहीं हैं। भोग के अन्त में जो वैराग्य होता है, वह अपेक्षाकृत अच्छा है। जिन्हें ऐसा नहीं होता, वे पुनः भोग में उतर आते हैं।

सभी चित्त का अपनी-अपनी प्रकृति में लय होता है। जो निम्न है, वह उच्च में लयीभूत हो जाता है। अन्त में रह जाती है मूल प्रकृति। किन्तु उन्मेष काल में उससे किसी विशिष्ट चित्त का व्युत्थान नहीं होता। परन्तु सामान्य चित्त में व्युत्थान होता है। लय के समय वह सामान्य चित्त भी लयीभूत हो जाता है।

प्रकृति लय तथा निरोध एक बात नहीं है। लय होता है अपने कारण से प्रकृति में। लय के बाद जो बचता है, वह है प्रकृति। चित्तलय तथा चित्तनिरोध एक बात नहीं है। लय के मूल में है अज्ञान। निरोध के मूल में है ज्ञान।

निरोध का क्रम—

(क) अपनी सुप्त ज्ञान सत्ता के जागरण द्वारा बाह्य जाग्रत् ज्ञानसत्त्व।

(ख) अभ्यास एक आलम्बन के साथ। नानामुखी चित्त का एकमुखी करने का अभ्यास।

(ग) एकाग्रता तथा प्रज्ञा। यहाँ चित्त ज्ञानात्मक है। यह है एकमुखी वृत्ति।

(घ) प्रज्ञानिवृत्ति अथवा निरोध। चित्त यही है वृत्तिहीन-संस्कार रूप।

(ङ) कैवल्य। यहाँ चित्त वृत्तिहीन तथा संस्कारहीन है। अथच नहीं है। यह है प्रकृति लयावस्था।

(च) चित्त के अनेक आलम्बन हैं। चित्तवृत्ति है विक्षिप्त-मूढ़।

(छ) नित्य सुप्त ज्ञानसत्ता।

मन की स्थिरता से चित्त शान्त होगा। उस समय उसमें प्रकाशोद्भव होने से उसमें समस्त विश्व प्रतिबिम्ब रूप परिलक्षित होगा। चित्त निवृत्त हो जाने पर द्रष्टा ही बिम्ब हो जाता है। अर्थात् बिम्ब स्वप्रकाश रूप में प्रतिच्छवित होने लगता है। विश्व चिन्मय हो गया, यही है आत्मरूप दर्शन। ज्ञान का तात्पर्य है चित्त का शुद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना। चित्त स्वच्छ तथा आलोकमय होने पर सत्य का सम्यक् प्रतिबिम्ब धारण कर सकेगा। उस समय द्रष्टा के समक्ष प्रतिबिम्बरूपेण सत्य का प्रकाश होता है। यद्यपि यह सत्यदर्शन है, तथापि यह बुद्धिधर्म है। तदनन्तर चित्तदर्पण में निरुद्ध हो जाने पर यह प्रतिबिम्ब ही बिम्ब हो जायेगा।

मैं एक घट देख रहा हूँ। देखते-देखते यदि तन्मय हो गया, तब दो अवस्था देखता हूँ—

(क) यदि बोध लुप्त हो गया, तब मैं घट हो गया। मेरा चित्त है घटाकार। लेकिन मैं यह नहीं देख सकूँगा, क्योंकि मैं अचेतन हूँ।

(ख) यदि बोध रहे तब मैं घट हो गया (मेरा चित्त घटाकार हो गया)। मैं उसका द्रष्टा होकर देखता हूँ। ऐसी स्थिति में मैं घट होकर भी घट से पृथक् हूँ। जो भी हो, इस अवस्था में भी चित्त देहत्याग नहीं करता। यह घटाकार दृश्य-चित्त = लिंग के द्रष्टा तथा चित्त हैं कारण। इन दोनों के मिलन से आनन्द का विकास होता है। फल है द्वैत लोप। जैसे घटाकार चित्त को देखा, वैसे ही विश्वरूप चित्त को देखा जाता है। द्रष्टा है कारण। कारण जो कुछ देखता है, सब ज्ञानमय है। उसका दृश्य-जगत् है साकार ज्ञानसमूह।

व्रजावस्था

दीप की लौ देखता हूँ। चतुर्दिक् प्रभा छिटक गयी है। यह देखना सम्यक् देखना नहीं है, क्योंकि दीपक की ज्योति विक्षिप्तावस्था में है। ये विक्षिप्त अंश यदि उपसंहृत होकर दीप की लौ में लौट आयें, तब चतुर्दिक् कुछ भी परिलक्षित नहीं होगा। उसे चाहे अन्धकार कहें अथवा शून्य, एक ही बात है। यह कह सकते हैं कि दीप की लौ अब एकाग्र है। उस समय का दर्शन यथार्थ दर्शन है। उसमें बाह्य वस्तुओं का मिश्रण नहीं है। यह यदि स्थायी हो, तब दीप कलिका को वज्रभाव प्राप्त हो गया। इस स्थिति में उसे कोई बुझा नहीं सकता। उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। मृत्यु बाह्य वस्तु का घातजनित आवरण है। जो विशुद्ध है, जिसमें बाह्य जगत् का मिश्रण नहीं है, हो ही नहीं सकता, उसकी मृत्यु नहीं होती।

जब वज्रावस्था में दीप परिलक्षित नहीं होगा, तब मैं उसे कैसे देख सकूँगा? इसका उत्तर है कि तब मैं भी वज्रभावापन्न रहूँगा। मेरी समस्त इन्द्रियाँ मन की विक्षिप्त प्रभा हैं। तब इन्द्रियाँ उपसंहृत होकर मन में घनीभूत रहती हैं। मन वज्रावस्था को प्राप्त करता है। यह मन ही वज्रभावापन्न दीपकलिका को देख सकेगा। यदि कोई वास्तव में दीपकलिका को वैसा कर दे, और मैं द्रष्टा होकर सामने रहूँ, तब मेरे मन तथा इन्द्रियों के आकर्षण के कारण अपने-आप वज्रावस्था मिल जायेगी। कोई पृथक् चेष्टा नहीं करनी होगी। तथापि ऐसा करना अनुचित भी है। क्योंकि हठात् विक्षिप्त रश्मियों के सिमट आने से भयंकर स्नायविक झटका लगेगा। तब उस वज्रदीप के दर्शन मात्र से मोह आयेगा। क्योंकि तब मैं अपना बोध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अक्षुण्ण नहीं रख सकूँगा। इसके लिए धीरे-धीरे मन को तैयार करना होगा। मन के दृढ़ होने से वह डर नहीं रहेगा। तब वज्रमन से वज्रदीप का योग होता है। केवल वज्रदीप ही नहीं, जो कुछ भी परिलक्षित होगा, वह सब वज्रमय होगा। उस समय अब की तरह बहुत सी वस्तुएँ परिलक्षित नहीं होतीं। जितना देखने की इच्छा होती है, मात्र उतना ही देखा जाता है। क्योंकि तब विक्षेप नहीं है। मन में विकल्प नहीं रहता और वस्तु में भी मिश्रभाव नहीं रहता।

इस व्रजावस्था के अनेक रहस्य हैं। जब मन को वज्रावस्था प्राप्त हो, तब चारों ओर कुछ दिखलाई नहीं देता। तब केवल स्वयं को देखा जाता है। वज्र ही आत्मा है। तब मन अपने आपको ही देखता है। यही है प्रज्ञा। देहावस्थान काल में उसमें स्थिति नहीं होती। केवल दर्शन होता है। दर्शन का तात्पर्य है उससे स्वप्रकाश तादात्म्य। चेतनामय ऐक्य। यह दर्शन कैसा है? जब तक संस्कार है, इच्छा है, तब तक उसी का आकार। उसके अभाव में अव्यक्त। इच्छा के साथ मन को वज्रभूमि अथवा आत्मभूमि में ले जाने से इच्छा का प्रकाशकाल मिलता है। उस आकार में आत्मदर्शन होता है। वहाँ इच्छा या संस्कार नहीं रहा। क्योंकि वह तृप्त होता है। उसी तृप्ति को लाया जा सके (निम्नभूमि में) तब सृष्टि होती है। उतारने का भी कौशल है।

आत्मा अथवा वज्र अव्यक्त है। यह निराकार अथवा अनन्त आकारमय अथवा अवर्णनीय है। इच्छा को वहाँ ले जाते ही इच्छा का लय ज्ञान में हो जाता है और तब साक्षात्कार होता है। बाद में क्रिया शक्ति-रूप में उतरना पड़ता है। इच्छा को संस्कार क्षेत्र (लिंग) से उठाते हुए, शोधित करते हुए, घनीभूत करते हुए शुद्ध ज्ञानरूप में बदलना पड़ता है। इस शुद्ध ज्ञानरूप इच्छा को (आकार को) निम्नभूमि में उतारते ही सृष्टि हो जाती है।

सूक्ष्मदेह

सूक्ष्मदेह दो प्रकार की है। प्रकाशहीन छायामय, बिम्बहीन प्रतिबिम्ब। छाया है काया नहीं है। छाया में प्रकाशमग्न है। दूसरी सूक्ष्मदेह है छायाहीन प्रकाशमय। प्रकाश अर्थात् काया। छाया उसमें मग्न है। दोनों में ही शैडो (छाया) नहीं है। शुद्ध अन्धकार तथा शुद्ध प्रकाश कभी प्रकाशमान नहीं होता।

हिरण्मयपात्र

सत्यमुख—यही सूर्य अथवा आत्मा का कल्याणतम रूप है। यह एक हिरण्मय पात्र से आवरित है। यह पात्र ज्योतिर्मय है। किरणें बिखरी हैं, तेजविक्षिप्त-सी हैं। यह जिसका रूप है, वही इसके आवरण को हटा सकता है। अन्य नहीं हटा सकता। यह जिसका कल्याणतम रूप है, यदि वह उस विकीर्ण चतुर्दिक् प्रसारित रश्मि-जाल को समेट ले, तब साधक उसका रूपदर्शन कर सकेगा। क्रमशः स्वयं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को भी उसी रूप में देख पाता है। यह जो कल्याणमय का रूपदर्शन है, वही है सत्यधर्म दर्शन। वह हिरण्मय पात्र ही सत्य का आदिम आवरण है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

इससे कई सत्य उद्घाटित हो रहे हैं। (1) वह पात्र है बुद्धि (चिदुज्वल)। यही हिरण्यगर्भ नामक बीज है। बुद्धि के परपार है सत्य। बुद्धि के पश्चात् ही विकारसृष्टि का शेष है। बौद्ध भी कहते हैं कि संवृत्ति तथा बुद्धि के पश्चात् परमार्थ है।

(2) यह ज्योति ही योगमाया है, जिसमें भगवान् समावृत हैं। वे सबके समक्ष प्रकाशमान नहीं होते।

(3)अपने बल से जीव इस ज्योति का भेद नहीं कर सकता। अतः प्रार्थना करता है 'त्वम् अपावृणु' तुम खोल दो! सत्य जिनका कल्याणतम स्वरूप है, केवल वे ही आवरणात्मक ज्योति-समूह को समेट कर द्वार खोल सकते हैं। (यह भक्तिवाद अथवा निर्भरता का बीज है)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गीता 7/14)

(4) बीच में यह ज्योति है, अतएव द्वैतबोध है। बुद्धि का अतिक्रमण करने पर अभेदावस्था है, जो सत्य है। वह जो कल्याणमय रूप है, उसे अभी प्रतिबिम्बरूपेण देख रहा हूँ, अतः वास्तविक कल्याणतम नहीं है। वह ज्योतिर्मय पात्र ही है बुद्धिदर्पण। इसी में प्रतिबिम्ब परिलक्षित है। तेज का उपसंहार होने से वह रूप प्रत्यक्ष होगा। विश्वरूप प्रकाशमान होगा। वह रूप मैं ही हूँ। यह प्रत्यक्ष होगा।

पूजा

यहीं बैठे-बैठे आँखें बन्द किये सभी तीर्थों तथा देवी-देवताओं की पूजा की जा सकती है तथा दूरस्थ वस्तु देखी जा सकती है। मान लीजिये कि मैं आँखें बन्द करके विश्वनाथ-पूजन में प्रवृत्त हूँ। अब भीतर का पर्दा सचराचर जगत् है। विश्वनाथ के मन्दिर प्रभृति का स्मरण करते ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। तब मन वहाँ जाकर स्वेच्छा से पूजनादि करता है। यह विश्वनाथ तथा काशी के मन्दिर में स्थित विश्वनाथ एक ही हैं। यदि बाहरी विश्वनाथ के पास कोई अन्तर्दृष्टि सम्पन्न कोई भक्त हो, तब वह मुझे वहाँ उपस्थित भी देख सकेगा। मेरा मनोमय शरीर उसे परिलक्षित होगा। यहाँ तक कि मैं जब मन ही मन विश्वनाथ-पूजन कर रहा हूँ, तब यदि अन्य भक्त अपने घर पर बैठे मन ही मन विश्वनाथ-पूजन करें, तब वे भी मुझे विश्वनाथ-मन्दिर में देख पायेंगे और मैं भी उन्हें वहाँ पूजा करते देख सकूँगा। पूजा के समय यदि मैं विश्वनाथ को प्रत्यक्ष कर सकूँ, तब मेरी मनोमय मूर्ति वहाँ स्पष्टतः आविर्भूत होगी। चिन्तन से मूर्ति का आविर्भाव अवश्यमेव होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके विपरीत उन विश्वनाथ को अपने हृदय में, मध्यबिन्दु में भी खींचकर लाया जा सकता है। अवश्य विश्वनाथ का प्रतिबिम्ब भी आयेगा। तब उनकी पूजा। तथापि यह पूजा अलग प्रकार की है। अभेदात्मक है। यह विश्वनाथरूप आत्मा की पूजा है। यह उत्कृष्ट है। एक प्रकार से साकार आत्मोपासना है। इस प्रकार समग्र जगत् के मध्यबिन्दु में आते ही आत्मदर्शन होता है। चारों ओर विशाल ज्योति परिलक्षित होती है।

विविध

समुद्र में जल है। तरह-तरह की नमकीन स्वाद की वस्तु है। भाप बनने से विशुद्ध जल ऊपर उठता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी समुद्रवत् है। उससे भी विशुद्ध सत्त्व उठकर अलग होता है। कैवल्य में इस सत्य की पूर्ण रूप से सम्पन्नता होती है। यही है सत्त्व शुद्धि।

□ □ □ □

बिन्दु (वीर्य) की अधोगति ही मृत्यु है। ऊर्ध्वगति है अमृत। बिन्दु गतिमान है, तब सृष्टि। अधोगति से प्रपंच सृष्टि। ऊर्ध्वगति से दिव्यधाम की सृष्टि। बिन्दु जहाँ स्थिर है, वहाँ सृष्टि नहीं है। जो अमृत है, वही है आनन्द।

पुरुष तथा प्रकृति की अशुद्धावस्था से अधोगति होती है। वहीं संसार है। पुरुष-प्रकृति जब शुद्ध चेतनावस्था में मिलित होते हैं, तब बिन्दु ऊर्ध्वगतिस्थ होता है। तब है आनन्दाविर्भाव। यही है भक्ति रसास्वादन = अमृत।

ऊर्ध्व तथा अध: दोनों में स्थिति।

जीव कैवल्य तक उत्थित हो, तब उसकी अधोगति नहीं रहती। तथापि यह अवस्था पूर्णत्व नहीं है। जीव भक्ति-बल से जब कैवल्य पाये (शिव होकर) तब ऊर्ध्वगति भी नहीं रहती। तब है पूर्णत्व।

□ □ □ □

मर्कट किशोर न्याय में बच्चा माँ को पकड़े रहता है।

मार्जार किशोर न्याय में माँ स्वयं बच्चे को पकड़े रहती है।

अतएव जब जीव ईश्वर को पकड़ता है, तब (मर्कट किशोर न्यायानुसार) उसके गिरने का भय रहता है। ईश्वर जब जीव को पकड़ते हैं (मार्जार किशोर न्याय से) तब कोई भय नहीं है। यही है वास्तविक अभय।

□ □ □ □

विश्वास से वस्तु मिलती है। तर्क से वस्तु दूर भाग जाती है। तर्क संशय प्रधान होता है।

□ □ □ □

उनके समान 'वे' ही हैं। और कुछ हो ही नहीं सकता। उनको किसी उपाय से नहीं पाया जा सकता। यदि पाया जा सकता, तब उपाय उनके समक्ष होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वे स्वतन्त्र हैं, अत: किसी भी प्रकार से उनको पकड़ा नहीं जा सकता। जब तक वे स्वयं को पकड़ा न दें!

कर्म के द्वारा 'वे' नहीं मिलते। कर्म से विभूति मिलती है। ज्ञान से मिलती है आत्मा। भक्ति से मिलते हैं परमात्मा।

वे अपने ही द्वारा मिलते हैं। यही कृपा-अनुग्रह है। किसी भी सम्पत्ति से, प्रतिदान से अनुग्रह नहीं मिलता। अनुग्रह बिकता नहीं।

विविध

संशय सर्वनाशी है। परिणाम है 'विनश्यति'। विनाश अर्थात् अदर्शन। संशय के कारण सब मिश्र हो जाता है। अन्धकार में मिल जाता है। पृथक् सत्ता नहीं रख सकता।

❑ ❑ ❑ ❑

कृत्रिम तथा स्वाभाविक वस्तु में भिन्नता है। जैसे कृष्ण का कृत्रिम चित्र और किसी व्यक्ति का जीवन्त चेहरा। मनोभूति में दोनों को ही लिया जा सकता है। किन्तु परिणाम भिन्न हो जाता है। मनोभूमि में स्वाभाविक वस्तु का जो आभास होता है, उससे बीज नहीं निकाला जा सकता। परन्तु कृत्रिम के आभास से बीज नहीं निकलता। अर्थात् वह कारणभूमि में नंहीं जाता। वह कारणभूमि से नहीं निकला है।

❑ ❑ ❑ ❑

ज्ञान का उदय हुए बिना भी भक्ति हो सकती है, यदि सुकृति रहे तब? यदि सुकृति नहीं है, तब ज्ञानी होकर भी भक्ति का उदय नहीं हो सकता। सुकृति ही भक्ति का बीज है। यदि सुकृति है, अथच आर्त्त है—तब भी भक्ति होती है। इसे कहते हैं आर्त्त भक्ति। केवल आर्त्त होने से ही भक्ति नहीं हो जाती। यदि ऐसा हो सकता, तब जितने भी आर्त्त हैं, सब भक्त हो जाते। इसी प्रकार केवल ज्ञान की इच्छा होने से ही जिज्ञासा भक्ति नहीं होती। सुकृति न रहने से जिज्ञासु ज्ञान के लिए भगवान् की ओर नहीं ताकता। जगत् अथवा ज्ञानी की ओर ताकता है। लेकिन जो सुकृतियुक्त जिज्ञासु है, वह भगवान् की ओर ताकता है। अर्थार्थी भी यदि सुकृति है, तभी भक्त होता, अन्यथा अर्थार्थी तो जगत् के धनी लोगों की ओर ताकते हैं। तभी गीता में कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (गीता 7/16)

अतः भक्त (सुकृति भक्त) चार प्रकार के होते हैं—
आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।

❑ ❑ ❑ ❑

गीता में कहा गया है कि जो दुष्कृति है, वह भगवत्-शरणागत नहीं होता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह नराधम है, मोहग्रस्त है। माया ने उसका ज्ञान हरण कर लिया है। जो नरों में उत्तम है, सुकृति है, उसका ज्ञान अव्याहत रहता है। तभी वह भगवान् का आश्रित होता है। जो भगवान् का शरणागत है, उसका ज्ञान माया के द्वारा अपहृत नहीं हो सकता। मान लिया कि शिवमन्त्र की आराधना करना है। साधक देहत्याग के उपरान्त शिवलोक जायेगा। साधना और अच्छी हो, तब शिवरूप प्राप्त करेगा। उनके सन्निधान में उनका परिकर होगा (सामीप्य)। शिव के समान शक्ति-लाभ करेगा। चरम स्थिति में शिव-तादात्म्य प्राप्त करेगा। शिव अर्थात् कार्यब्रह्म। शिव-तादात्म्य वास्तव में शिवांग में लय है। यदि स्थूलदेह-त्याग के पहले आत्मज्ञान न हो, तब इस शिवलोक में रहते हुए उसका जन्म होता है (अधिक से अधिक तीन बार)। यदि साधक का परिपाक अधिक है, तब दो बार अथवा एक ही बार जन्म होगा। यह गुरुदत्त शक्ति पर निर्भर है। यदि शिवलोक में ही वह साधना में उन्नति कर ले, तब जन्म नहीं भी हो सकता है। शिवलोक से ही परब्रह्म (आत्मज्ञान) ज्ञान सम्भव है। किन्तु शिव का सायुज्य पाने के साथ ही ब्रह्मज्ञान-लाभ होगा, लेकिन ब्रह्मरूपता नहीं होगी। वह महाप्रलय में होगी। यह शिवलोक की ही बात नहीं है, प्रत्येक देवलोक हेतु यही नियम है। सभी लोक दो प्रकार के होते हैं। जो सर्वोच्च लोक है, वह निर्मलतम सत्त्व का विकास है। यह चरम लोक साधक के भाव के अनुसार नाना प्रकार का हो सकता है। भाव के अनुसार इसे कैलास, गोलोक, वैकुण्ठ, देवीलोक आदि कहते हैं। यह एक ही वस्तु का भावानुरूप दर्शन है। परन्तु पृथक् रूप से लोकों में उच्च-निम्न का भाव रहता है। तब शिवलोक एवं विष्णुलोक या अन्य लोक एक स्तर के नहीं हैं।

इसलिए देवाराधन की दो दिशा है। सभी देवता एक स्तर के नहीं होते। ब्रह्मदृष्टि से सब देवता ही एक कार्यब्रह्म के भावभेदानुसार विभिन्न प्रकाश हैं। प्रथम साधना के समय ब्रह्मदृष्टि रहती ही नहीं। अतएव भेदानुसार ही साधना होती है। कोई साधक कल्पना या भावना बल से ही ब्रह्मदृष्टि रखते हों, यह स्वाभाविक नहीं है।

तत्त्व को और स्पष्ट किया जाता है। सभी देवता भाव विशेष हैं। यह चाहे जिस प्रकार से भी हो, शून्यमय होने से तभी ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा का अर्थ है कि यह भाव भी ब्रह्म का भाव है।

उदाहरण के लिए यह बतलाना है कि शिव की साधना दो प्रकार की हो सकती है। साकार ब्रह्म की उपासना देवता के माध्यम से, अथवा केवल देवता की उपासना। शिव को केवल एक देवता मानकर उपासना करने से शिवलोक में जाने पर सारूप्यादिक्रमेण शिव-सायुज्य मिलता है। ब्रह्मज्ञान की तब आशा नहीं रहती। शिव-सायुज्य होने पर भी कुछ परदा शेष रह जाता है। जीव उन्हें ब्रह्मरूपेण नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जान पाता। यदि जीव उन्हें ब्रह्मरूप में जान पाता, तब ब्रह्मज्ञान पाकर ब्रह्मरूप हो जाता। अथवा उस शिवलोक में ही योग्यतानुसार ब्रह्मज्ञान मिल सकता।

द्वितीय क्रम में शिव को कार्यब्रह्म मानकर भी उपासना की जा सकती है। इसके फल से देहावस्था में ही ब्रह्मज्ञान हो सकता है। अथवा देहान्त होने पर शिवलोक में गति होगी, जहाँ ब्रह्मज्ञान की स्फूर्ति पाकर भावातीतावस्था मिल सकेगी।

यहाँ जो दो क्रम कहे गये, वे ब्रह्मज्ञानी देवता की उपासनार्थ कहे गये। अज्ञानराज्य में भी देवता हैं उनकी उपासना क्षुद्र उपासना है। अतः देवता दो प्रकार के हैं। ब्रह्मविद् तथा अब्रह्मविद्। ब्रह्मविद् देवता की उपासनार्थ ऊपर दो क्रम कहे गये। उसी प्रकार अब्रह्मविद् देवताओं की भी दो क्रम से उपासना की जा सकती है।

अब यह शंका है कि फल साधक की दृष्टि के अनुसार होगा अथवा उपास्य की शक्ति के अनुसार होगा? क्या साधक ब्रह्मदृष्टि न होने से भी ब्रह्मज्ञ देवता से ब्रह्मज्ञान पा सकता है? नहीं पा सकता। इसके विपरीत यह भी प्रश्न उठता है क्या साधक को ब्रह्मदृष्टि होने पर अब्रह्मज्ञ देवता ब्रह्मज्ञान दे सकते हैं? सिद्धान्त यह है कि दोनों के मूल में एक ही पूर्ण ब्रह्म है। इसलिए दोनों के उत्तर में यह कहना है कि हाँ दे सकते हैं क्योंकि दोनों के मूल में एक ही पूर्णब्रह्म है। अब्रह्मज्ञ देवता भी साधक की ब्रह्मदृष्टि में ब्रह्मज्ञ के रूप में प्रकाशित होते हैं तथा वैसा ही कार्य करते हैं। साथ ही जो ब्रह्मज्ञ देवता हैं वे भी ऐसे साधक को ब्रह्मज्ञान नहीं देते, जिस साधक में ब्रह्मदृष्टि नहीं है। साथ ही यह भी सत्य है कि कृपावश होकर ब्रह्मज्ञ देवता साधक की बन्द ब्रह्मदृष्टि को खोल सकते हैं। लेकिन जो देवता अब्रह्मज्ञ हैं, वे ऐसा नहीं कर सकते।

साधारण साधक में ब्रह्मदृष्टि सम्भव नहीं है। यदि ब्रह्म ही लक्ष्य है, तथापि भाव के भीतर जाना हो, तब निम्न उपाय हैं—

(1) संस्कारानुरूप देवता की उपासना। यह ब्रह्मज्ञ देवता होते हैं। उद्देश्य है ऐश्वर्य-सिद्धि—सुख-भोग।

(2) बाद में साधक समझ सकता है कि वह देवता जिनकी उपासना की जा रही है, वह देवता ब्रह्मरूप है। यह होता है सायुज्य समाधि में। तब सबकुछ ब्रह्म ही लगता है। उस समय की उपासना है—ब्रह्मरूप में उपासना। यह ब्रह्मदृष्टि कल्पित नहीं है। एक लोक से बाहर होकर अन्य लोक में जाना होता है। अथवा एक लोक भेद कर तब दूसरे लोक में जाना होता है। पहला लोक, उससे दूसरा लोक, तब तीसरा। इस प्रकार से क्रमबद्ध। इसमें पहले लोक का साधक उस लोक के केन्द्र में जाकर देवता का सायुज्य प्राप्त करके अथवा समाधि द्वारा उसका भेद कर लेता है। यदि पहले से सीधे तीसरे में जाना है (बीच में दूसरे लोक में नहीं जाना है) तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहले लोक के बाहर जाकर पुनः दीक्षित होकर तब तीसरे लोक में प्रवेश करने का नियम है।

□ □ □ □

कमल = चक्र। कर्णिका केन्द्र दल है Radiation, विकिरण केन्द्र अथवा बिन्दु से हलके रूप में विकिरण होता है। बाह्य सीमा है परिधि। बिन्दु-प्रवेश हो जाने पर देखा जाता है कि वह भी एक चक्र है। उस समय प्रथमतः चक्र दृष्ट नहीं होता। उस चक्र का भी एक बिन्दु है। उस बिन्दु में जाने से बाहरी चक्र अव्यक्त हो जाता है (बाह्य दृष्टि जो नहीं रहती)।

यथार्थ बिन्दु है ब्रह्म। ब्रह्म का अणु जिसने देख लिया, उसे वह सर्वत्र परिलक्षित होता है। परन्तु इसके लिए बाहर आना होगा।

□ □ □ □

गीता में भगवान् ने (गीता, अध्याय 18, श्लोक 66) कहा है कि सर्वधर्म का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ इत्यादि। इस श्लोक से अनेक तथ्य ज्ञात होते हैं—

प्रथम—जीव अत्यन्त दुःखी है। भगवान् यह समझते हैं कि जीव को दुःख न रहे।

द्वितीय—उसके दुःख का कारण है कि वह अनेक पापों से जड़ित है। पाप से मुक्त नहीं हो रहा है।

तृतीय—वह अपने पापों को काटने हेतु अनेक धर्मों का आश्रय लेता है। इसमें आत्मचेष्टा प्रधान है।

चतुर्थ—जीव की दुःख निवृत्ति का भगवत् निर्देशित क्रम—

कर्त्तव्य रूप में अवलम्बित विभिन्न धर्मों का परिहार। एकमात्र भगवान् की शरण लेना। तब भगवान् शरणापन्न अनन्य भक्तों के सभी पापों को नाश करने का भार लेते हैं।

निराश्रय होकर भगवान् की शरण न लेने से वे जीव के सभी पापों को नष्ट करने का भार नहीं लेते।

□ □ □ □

गुरुस्तोत्र में कहा गया है सचराचर में अखण्ड मण्डलाकृति जो व्याप्त है, उनके पद का दर्शन जिन्होंने कराया उन गुरु को नमस्कार है।

यहाँ तीन तत्त्व हैं। प्रथम है—जगत् स्थिर तथा चल की समष्टि है, देखने में यह अखण्ड मण्डलाकृति है।

द्वितीय है—यह उपर्युक्त जगत् का व्यापक है। अतएव चर में आत्मा है, व्यापक होने के कारण उसके बाहर भी एक ही आत्मा रहता है। इसलिए आत्मा सर्वात्मक तथा सर्वातीत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो व्याप्त है, वह शुद्ध आत्मा है। वही जगत्रूप में व्याप्त है। शबल आत्मा है। शुद्ध आत्मा का पद ही तत्पद है।

गुरु = जो उस शुद्ध आत्मपद को प्रदर्शित करते हैं।

श्रीगुरु = शक्तियुक्त गुरु। इनके दिखलाये बिना उस तत्पद को नहीं देखा जा सकता।

□ □ □ □

सर्वत्र परमात्मदर्शन होने से ही भक्ति का आरम्भ होता है। उस समय अपना करने अथवा देखने को कुछ नहीं होता। यही है निर्भरता। प्रेम आदि का विकास इसी से हो जाता है। चरम में साम्यभाव और भगवान् समान होते हैं। उसके बाद कब होगा अनुग्रह, इसे कोई भी बता नहीं सकता। अनुग्रह हो जाने पर एक ही पूर्ण विराजमान रहते हैं। यही पूर्णत्व है। इसे नानारूप में कह सकते हैं—

(i) भगवान् अपने को भक्त में समर्पित करते हैं। भक्त पूर्ण होकर प्रकाशित होता है। स्वयं को पूर्ण अनुभव करता है।

(ii) भक्त अपने को भगवान् में समर्पित करता है। अब स्वयं को भगवान् (पूर्ण) रूपेण अनुभव करता है।

(iii) उस समय न भक्त है न भगवान्। दोनों एक अद्वय पूर्ण हैं।

●

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यात्म, योग, तंत्र, धर्म, दर्शन, संस्कृति विषयक प्रमुख ग्रन्थ

जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड)	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
वेद व विज्ञान	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
वेदान्त और आइन्सटीन	अनिल भटनागर
सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा	भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
परलोक तत्त्व	भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
मानव-तत्त्व तथा वर्ण विवेक	भार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ	भरत झुनझुनवाला
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष	डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल
साधना और सिद्धि (योग से आरोग्य)	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म सार)	प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	अनु० : ना०वि० सप्रे
श्रीमद् एकनाथी भागवत	अनु० : ना०वि० सप्रे
तुकाराम गाथा (संतश्रेष्ठ तुकाराम के चुने हुए अभंगों का भावानुवाद)	अनु०: ना०वि० सप्रे
मनीषी की लोकयात्रा (पं०गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन)	डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	नन्दलाल गुप्त
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस	अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा	पं० गोपीनाथ कविराज
स्वर से समाधि	स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'
यंत्र-मंत्र रहस्य	स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'
गुप्त भारत की खोज	पाल ब्रंटन

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2, 3 व 4)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति * दीक्षा
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

₹ 100.00
ISBN:978-81-7124-815-5
9 788171 248155
www.vvpbooks.com

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi